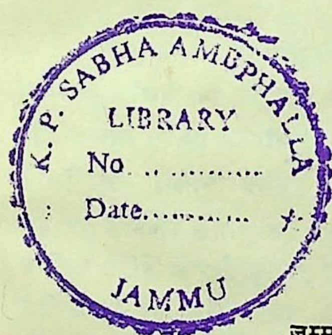


जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़,
नहर मार्ग, जम्मू तवी

चीड़ों में ठहरी बयार



जम्मू-कश्मीर के प्रतिनिधि हिन्दी लेखकों
की रचनाओं का एकमात्र संकलन

सम्पादक :
रमेश मेहता



प्रकाशक : सचिव, जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट,
कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़,
नहर मार्ग, जम्मू तवी—180001

मूल्य : 14.50 रुपये
प्रथम संस्करण : मार्च 1978

मुद्रक : आधुनिक प्रिंटर्स,
लक्ष्मीपुरा, जालन्धर

CHEERON MAIN THEHRI BAYAR

SELECT HINDI PROSE AND POETRY

Written by Writers of JAMMU AND KASHMIR.

आमुख

*

जम्मू-कश्मीर के अहिन्दी भाषी हिन्दी लेखक की एक मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण शिकायत यह रही है कि किसी भी स्तर पर, सही परिप्रेक्ष्य में, उसका उचित मूल्यांकन नहीं हो पाया है। परिणामस्वरूप उसे जो रिकग्निशन मिलना चाहिए था, नहीं मिला है। आरम्भिक अवस्था में वह यह मानकर संतोष कर लेता था कि उसकी पुस्तकों का प्रसार शायद वांछित तरीके से नहीं हो पा रहा है। किन्तु इधर डॉ० ओम प्रकाश गुप्त, शशिशेखर तोषखानी तथा मोहन निराश प्रभृत्ति समर्थ लेखकों की कृतियों का प्रकाशन, दिल्ली के प्रतिष्ठित प्रतिष्ठानों से होने पर भी जब उनका नोटिस नहीं लिया गया तो हिन्दी में लिखते रहने की सार्थकता पर उनके साहित्यकार ने प्रश्न-चिन्ह लगाना आरम्भ कर दिया। स्थिति की गम्भीरता उस समय और भी अधिक उभर कर हमारे सामने आती है जब हम इस बात की ओर ध्यान देते हैं कि 1962 में अकादमी द्वारा प्रकाशित **गद्यांजलि** तथा **पद्यांजलि** के अधिकांश लेखकों ने या तो लेखन मात्र से ही संन्यास ले लिया है या फिर वे लोग क्षेत्रीय भाषाओं की ओर उन्मुख हो गए हैं। मुझे यह कहने में सकोच के स्थान पर गौरव का अनुभव होता है कि हिन्दी के माध्यम से क्षेत्रीय भाषाओं को प्राप्त होने वाले साहित्यकारों ने इन भाषाओं को समृद्ध करने में सर्वाधिक योगदान दिया है। लेकिन यहां प्रश्न यह उठता है कि यदि इसी प्रकार अहिन्दी भाषी हिन्दी लेखक अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम हिन्दी के स्थान पर प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय भाषाओं/बोलियों को बनाने लगेंगे तो हिन्दी का भविष्य क्या होगा? निस्सन्देह यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और

इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके समस्या का समाधान तलाश किया जाना चाहिए । यह आज पहले से कहीं अधिक आवश्यक हो चला है ।

*

1960 से 1977 तक के कालखण्ड में जम्मू-कश्मीर की धरती को तीन-तीन युद्धों की विभीषिका से जूझना पड़ा है । इसी अवधि में राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्तर पर भी अनेक परिवर्तन हुए हैं । जम्मू-कश्मीर का हिन्दी साहित्यकार इन परिवर्तनों का मात्र दृष्टा न हो कर भोक्ता भी रहा है । उसने अपनी रचनाओं के माध्यम से इन परिवर्तनों के सूक्ष्म एवं स्थूल प्रभावों को रेखांकित किया है । उसकी रचनाएं इस बात की गवाह हैं कि उसने देश की व्यापक चेतना को आत्मसात करते हुए एक आधुनिक-दृष्टि से सम्पन्न साहित्यकार होने के प्रमाण प्रस्तुत किए हैं । उसकी रचनाओं में कुंठा, संत्रास, आधुनिक बोध, घुटन आदि का चित्रण मात्र फैशन के बतौर न होकर रचना की शिल्प एवं विषयगत मांग को ध्यान में रख कर हुआ है । यदि उसने कहीं महानगर की जिन्दगी की विसंगतियों को उजागर किया है या असंगत स्थितियों के माध्यम से सार्थक बात कहने का प्रयत्न किया है तो यह उसके भोगे हुए यथार्थ का प्रतिफलन है । कविता हो या कहानी, संस्मरण हो या नाटक—किसी भी क्षेत्र में वह किसी से कम नहीं है—प्रस्तुत संकलन में प्रकाशित रचनाएं इसकी गवाही देती हैं ।

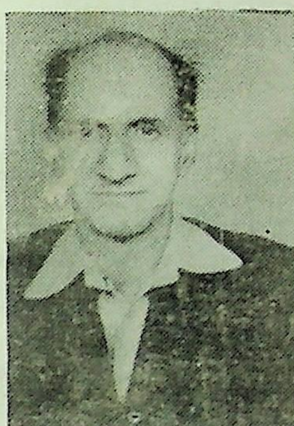
*

एक स्पष्टीकरण इस संकलन में प्रकाशित रचनाओं के चयन के विषय में । यह सच है कि किन्हीं विशिष्ट कारणों से आज अधिकांश लेखक क्षेत्रीय भाषाओं में लिखना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं तो भी यह प्रसन्नता की बात है कि जम्मू-कश्मीर में हिन्दी लेखकों की एक भारी संख्या साहित्य सृजन में रत है । प्रस्तुत संकलन की कुछ अपनी सीमाएं हैं, अतः इसके लिए रचनाओं का चयन करते समय अनेक नये-पुराने लेखकों को न चाहते हुए भी छोड़ना पड़ा—इसके लिए मैं इन लेखकों का अपराधी हूं और इनसे क्षमा चाहता हूं ।

—रमेश मेहता

लेखक परिचय एवं
अनुक्रम

शंकर शर्मा पिपासु (स्व०)



ज० 25-11-1917 निधन 1-1-78 (जम्मू नगर) पि० श्री चन्दू लाल परोच मा० श्रीमती अरुन्धती देवी शि० मैट्रिक, प्रभाकर वि० अगस्त 1961, श्रीमती सुधा रानी व्य० अध्यापन ले० 1940 प्र० दो चांद, सीमा का पंछी पु० स० 1974 में हिन्दी साहित्य मंडल जम्मू द्वारा सम्मानित

रचना :पृ० 2-3

दुर्गा दत्त शास्त्री



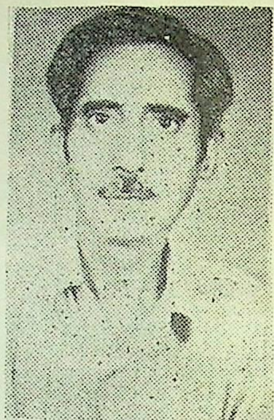
ज० 1-4-20 पि० पं० लब्ध राम जी शि० शास्त्री, प्रभाकर वि० 1940 श्रीमती कौशल्या देवी व्य० अध्यापक ले० 1946-47 प्र० देश-वन्दना

पता : 147-ए, गांधी नगर, जम्मू

रचना : पृ० 4-5

संकेत निर्देश : ज० जन्म तिथि एवं स्थान पि० पिता मा० माता शि० शिक्षा वि० विवाह की तिथि एवं पत्नी का नाम व्य० व्यवसाय ले० लेखन आरम्भ प्र० प्रकाशित कृतियां सं० सम्पादन पु० सं० पुरस्कार एवं सम्मान अनु० अनुवाद

चन्द्र कान्त जोशी

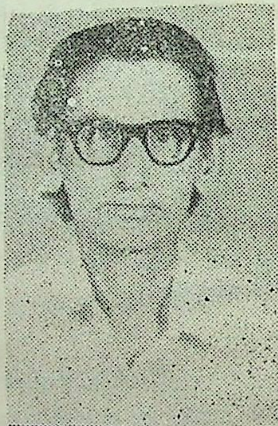


ज० 28-2-1928 (जम्मू) **पि०** श्री शंकर नाथ **शि०** एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), साहित्य रत्न, प्रभाकर **वि०** 5-5-1948 श्रीमती कृष्णा **व्य०** अध्यापन **ले०** 1943 **प्र०** दुःख सुख सं० पद्यांजलि

पता : राजकीय कालेज, कठुआ (ज० क०)

रचना : पृ० 6-8

डॉ० गंगा दत्त विनोद



ज० 29-9-1920 (अम्ब गरोटा) **पि०** पं० हाकिम चन्द्र **शि०**एम०ए० (हिन्दी संस्कृत), वेदाचार्य, काव्यतीर्थ, साहित्य रत्न, पीएच०डी०**वि०** 1948, श्रीमती पुष्पा **व्य०** अध्यापन **प्र०** उल्लोल, मतिमन्थन, शैव-दर्शन, अनुराग-विराग, चण्डी दास ग्रन्थावली तथा अन्य।

पता : मोहल्ला पहाड़ियां, जम्मू

रचना : पृ० 9-10

जानकी नाथ कौल 'कमल'



ज० जून 1914 (श्रीनगर) **पि०** श्री जगन्नाथ **शि०** एम० ए०बी० टी०; प्रभाकर **वि०** अप्रेल 1936, श्रीमती गुणवती **व्य०** अध्यापन **ले०** 1933 **प्र०** श्रद्धा-पोष (कश्मीरी), विक्षिप्त वीणा (हिन्दी)

पता : रैणावारी, श्रीनगर

रचना : पृ० 11-13

श्याम दत्त पराग

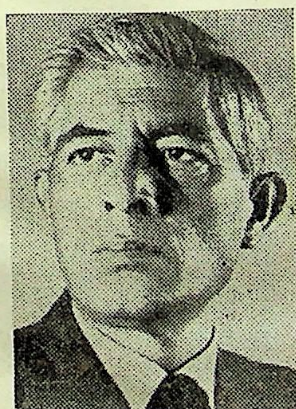


ज॰ 27-4-1928 (रियासी) **पि॰** श्री वली राम **मा॰** श्रीमती प्रीतम देवी **शि॰** प्रभाकर, साहित्यरत्न **वि॰** 12-3-1950, श्रीमती राजकुमारी **व्य॰** आकाशवाणी में समाचार प्रवाचक **ले॰** 1949 **प्र॰ कृ॰** मधुर मधुर बालगीत, पराग बाल गीत तथा अन्य

पता : 705/12 आर॰ के पुरम, नई दिल्ली—110022

रचना : पृ॰ 14-15

सुभाष भारद्वाज



ज॰ 15-12-1929 (जम्मू नगर) **पि॰** पं॰ रमाकान्त भारद्वाज **मा॰** श्रीमती शांति देवी **शि॰** एम॰ ए॰ (हिन्दी, संस्कृत), प्रभाकर, साहित्यरत्न बी. एड. **वि॰** 26-4-1953, श्रीमती स्वर्णलता **व्य॰** अध्यापक **ले॰** 1944 **प्र॰** ताण्डव, रेत का सागर, बिन मोती की सीप **अनु॰** आधुनिक डोगरी साहित्य **सं॰** पद्यांजलि **पु॰ सं॰** रेत का सागर (कविता संग्रह) के लिए कल्चरल अकादमी द्वारा पुरस्कृत, 1974 में कल्चरल अकादमी की फेलोशिप से सम्मानित।

पता : अम्बफला, जम्मू

रचना : पृ॰ 16-20

मनसा राम शर्मा 'चंचल'

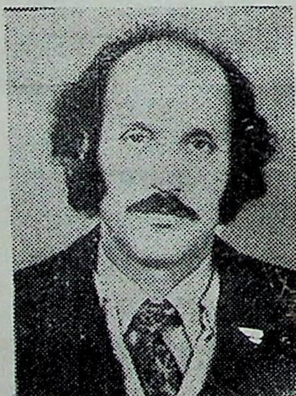


ज० 17-1-1928 (गुढ़ा मुंडेयां, तहसील-हीरानगर, जम्मू) **पि०** श्री साधु राम **वि०** 30-1-1948, श्रीमती संसारवती **व्य०** राजकीय सूचना सेवा में पत्रकार **ले०** 1952 **प्र०** भारत-दर्शन, पंजाब-जीवन और साहित्य, अश्रुमाला, सुषमा, महापुरुष, बालगीत, महामानव गांधी **सं०** दैनिक हिन्दी मिलाप, रेखा, रत्न, योजना बाल-विकास, फुलवाड़ी, कश्मीर समाचार, डुग्गर समाचार, प्रतिभा **पु० सं०** जम्मू कश्मीर कल्चरल अकादमी द्वारा 1961 में पुरस्कृत

पता : राजकीय सूचना विभाग, जम्मू/श्रीनगर

रचना : पृ० 21--22

शशि शेखर तोषखानी



ज० 24-5-1935 (श्रीनगर) **पि०** प्रो०एस०के० तोषखानी **शि०** एम० ए० (हिन्दी, अंग्रेजी), पीएच० डी० **वि०** जुलाई 1960, श्रीमती सरिता **व्य०** राजकीय सेवा **ले०** 1949 **प्र०** लल्लेश्वरी, थोड़ा सा आकाश **सं०** एक अपरिचित आकाश **अनु०** कहा था ऋषि (शेख नूरुद्दीन वली) ने।

पता : 5-इन्दिरा नगर, सोनावार श्रीनगर

रचना : पृ० 23-25

डॉ॰ ओम प्रकाश गुप्त



ज॰ 1-3-1934 (स्यालकोट) **पि॰** श्री मणी राम **शि॰** एम॰ ए॰, पी एच॰ डी॰ **वि॰** 7-3-1962, श्रीमती सुभाष गुप्त **व्य॰** अध्यापन **प्र॰** सागर के तीर, युद्ध और शान्ति, हिन्दी डोगरी परसर्ग, लहर लहर हर नैया नाचे, हिन्दी-डोगरी पर-प्रत्यय, सेतुओं की खोज **सं॰ अनु॰** थिरके पत्ता पीपल का।

पता : राजपुरा, जम्मू

रचना : पृ॰ 26-28

रतन लाल शान्त

ज॰ श्रीनगर **शि॰** एम. ए. **प्र॰** खोटी किरणें **सं॰** रसूलमीर।

पता : 55-अडियार वाला, श्रीनगर

रचना : पृ॰ 29-30

मोहन निराश



ज॰ 21-3-1934 (श्रीनगर) **शि॰** बी. ए., 'प्रभाकर, प्राज्ञ **व्य॰** भारत सरकार की सेवा में **ले॰** 1948, **प्र॰** कृष्ण मेरा पर्याय (पुरस्कृत) **सं॰** एक अपरिचित आकाश **पु॰सं॰** डी. पी. धर स्मृति पुरस्कार विजेता

पता : डलहसनयार श्रीनगर।

रचना : पृ॰ 31-34

पृथ्वी नाथ 'मधुप'

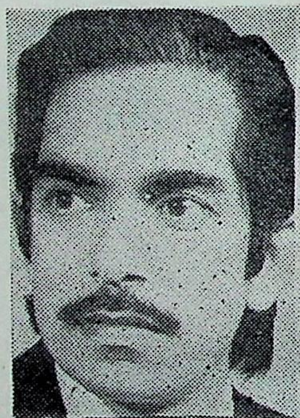


ज० 14-4-1937 (गांदरवल, कश्मीर) **पि०** पं० नीलकंठ शर्मा **शि०** एम. ए. **वि०** 5-7-1958, श्रीमती शान्ता **व्य०** अध्यापन **ले०** 1950 **प्र०** वे मुखर क्षण, परमानन्द, खोया चेहरा, कश्मीरी स्वयं-शिक्षक, गल्प-सौरभ **सं०** नीलजा, वाणी वितस्ता की ।

पता : जैड—34, नवीन शाहदरा, दिल्ली—110032 ।

रचना : पृ० 35-36

रमेश मेहता



ज० 9-11-1947 (जम्मू) **पि०** श्री ब्रह्म दत्त मेहता **मा०** श्रीमती राम देवी **शि०** बी०ए० आनर्स, एम०ए० **वि०** 30 नवम्बर 1976, श्रीमती बृज मोहिनी **व्य०** जे०एण्ड० के० कल्चरल अकादमी में हिन्दी सम्पादक **ले०** 1968 **प्र०** खुले कमरे बन्द द्वार **सं०** कोहरा और धूप, सहस्रमुखी, प्रतिनिधि कहानियां-कश्मीरी, प्रतिनिधि कहानियां-डोगरी, तथा अन्य ।

पता : 235-रिहाड़ी जम्मू—180005.

रचना : पृ० 37-39

कु० उषा व्यास

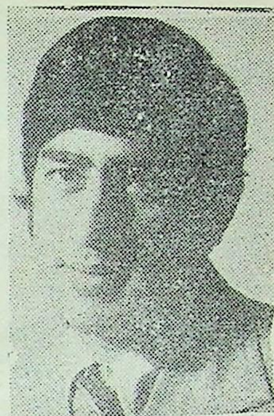


ज० 2-9-1950 (कठुआ) **पि०** श्री दीना नाथ व्यास **शि०** एम० ए० **ले०** 1960 **प्र०** प्रतिदान (उपन्यास)

पता : द्वारा कल्चरल अकादमी, जम्मू ।

रचना : 40-42

निर्मल विनोद

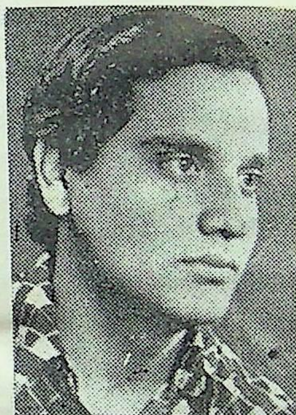


ज० 1-6-1950 (जम्मू) **पि०** श्री ओम प्रकाश **मा०** श्रीमती सुशीला देवी **शि०** बी एस० सी०, प्रभाकर एम० ए० **वि०** 13-12-75, श्रीमती नीलम **व्य०** अनुसंधित्सु **ले०** 1969 **प्र०** पत्थरों का दरिया, तवी के आर-पार

पता : सुशील निवास, हरिसिंह नगर, कोटली बस्ती, जम्मू

रचना : पृ० 43-44

डॉ० आदर्श

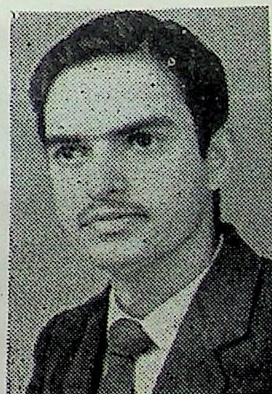


ज० 28-12-1950 **पि०** श्री शान्ति प्रकाश **मा०** श्रीमती पुष्पा देवी **शि०** बी. ए., बी. ए. एम. एस. **वि०** 1977, श्रीमती साधना **व्य०** चिकित्सक **ले०** 1968 **प्र०** एक आयास अनायास (सहयोगी प्रकाशन), प्रश्न तुमसे

पता : 37, द्वारिकापुरी, मुजफ्फर नगर, (उ० प्र०)

रचना : पृ० 45-47

जितेन्द्र उधमपुरी



ज० 9-11-1944 (उधमपुर) **पि०** श्री जगन्नाथ गुप्ता **शि०** एम. ए. (हिन्दी, इतिहास), एम.एड. ऑनर्ज़ इन उर्दू, हिन्दी, डोगरी। **व्य०** आकाशवाणी में प्रोडयूसर **ले०** 1960 **प्र०** चाननी, बनजारा, चेतें दे सूरजमुखी

पता : आकाशवाणी, जम्मू।

रचना : पृ० 48-49

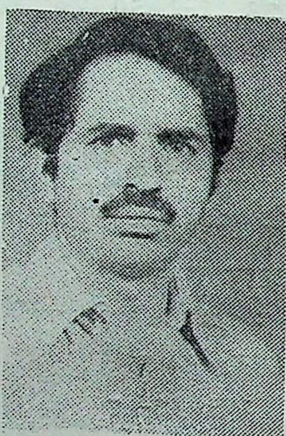


ज० 22-5-1933 (जम्मू) **पि०** श्री मुल्ख राज सराफ **मा०** श्रीमती ज्ञान देवी **वि०** 4-7-1957 श्रीमती दर्शी **व्य०** लेखक, निर्माता, निर्देशक **ले०** 1950 **प्र०** दरार तथा अन्य कई कृतियां **विशेष०** अपनी ही कहानियों -- दरार तथा प्रेम पर्वत पर बनी दो फिल्मों का निर्देशन ।

पता : बी–35, सर्वोत्तम हाउसिंग सोसायटी, इर्ला ब्रिज, अंधेरी, बम्बई ।

रचना : पृ० 52-66.

हरिकृष्ण कौल



ज० 22-7-1934 (श्रीनगर) **पि०** श्री वासुदेव कौल **शि०** एम. ए. **वि०** 1956, श्रीमती रानी कौल **व्य०** अध्यापन **ले०** 1950 **प्र०** इस हमाम में, गद्य गरिमा ।

पता : काठलेश्वर, जैंदार मोहल्ला, हब्बाकदल, श्रीनगर

रचना : पृ० 67-76.

छत्रपाल



ज० 11-2-1949 (अखनूर) **पि०** श्री सत्यपाल **शि०** बीएस. सी., शिरोमणि **व्य०** आकाशवाणी जम्मू में समाचार प्रवाचक **ले०** 1969 **प्र०** टापू दा आदमी ।

पता : द्वारा शर्मा न्यूज एजेंसी, अखनूर

रचना : पृ० 77—92

ज्योतीश्वर पथिक

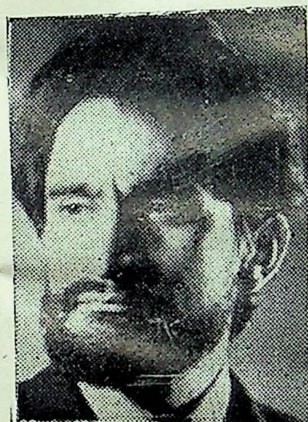


ज॰ 8-10-1940 (जम्मू) पि॰ श्री राम चन्द्र गन्दोत्रा शि॰ एम॰ए॰ वि॰ 20-2-1968, श्रीमती उर्मिल व्य॰ राजकीय सूचना सेवा में सूचना अधिकारी ले॰ 1953 प्र॰ कोमल कोमल गीत, रुनझुन

पता : 115 नया अस्पताल मार्ग, जम्मू

रचना : पृ॰ 95—99

ओम गोस्वामी



ज॰ 1948 (जम्मू) पि॰ श्री वी आर. गोस्वामी शि॰ बी॰एस॰सी॰, प्रभाकर शिरोमणि, एम॰ ए॰ (हिन्दी) व्य॰ सम्पादक डोगरी, कल्चरल अकादमी जम्मू ले॰ 1960-61 प्र॰ निर्वासित पु॰स॰ डोगरी कहानी संग्रह न्हेरे दा समन्दर पर 1975 में कल्चरल अकादमी द्वारा पुरस्कृत

पता : 181, मोहल्ला पहाड़ियां, जम्मू

रचना : पृ॰ 100—104

अशोक जेरथ



ज॰ 16-3-1946 (जम्मू) पि॰ श्री शिवनाथ शि॰ एम॰ए॰ (हिन्दी, अंग्रेजी) बीएस॰सी॰, बी॰एड॰, बंगला में डिप्लोमा वि॰ 9-5-1974, श्रीमती वीणा देवी व्य॰ अध्यापन ले॰ 1965 प्र॰ न टूटने वाले पंख, सं॰तवी, टीचर मधुरिमा, संघर्ष (पत्रिकाएं), देवदार की छाया तले (कहानी संग्रह)

पता : 181, मस्तगढ़, जम्मू

रचना : पृ॰ 105—111

डा० संसार चन्द्र



ज० 28-8-1917 (मीरपुर) **पि०** श्री कर्म चन्द **शि०** एम०ए० (हिन्दी संस्कृत), पीएच०डी०, डि० लिट **वि०** 14-2-1996 (विक्रमी), श्रीमती कुलवती **व्य०** अध्यापन **ले०** 1946 **प्र०** सटक सीताराम, अपनी डाली के कांटे, बातें यह झूठी हैं, सोने के दांत तथा 36 के लगभग अन्य पुस्तकें। **पु०स०** उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा तथा जम्मू-कश्मीर की सरकारों द्वारा पुरस्कृत एवं सम्मानित

पता : विश्वविद्यालय कैम्पस, जम्मू

रचना : पृ० 114—121

डा० वेद कुमारी

ज० 16-11-1932 (जम्मू) **पि०** श्री बरकत राम **शि०** एम०ए० (संस्कृत) पीएच०डी० **पति०** डा० राम प्रताप वेदालंकार **व्य०** अध्यापन **ले०** 1942 **प्र०** छः से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित

पात रघुनाथपुरा, जम्मू

रचना : पृ० 122—126

पद्‌मा सचदेव



ज० 17-4-40 (जम्मू तवी) **पि०** श्री जयदेव शर्मा **मा०** श्रीमती शकुन्तला देवी **शि०** एफ०ए० **वि०** 24-1-1966, स० सुरेन्द्र सिंह **व्य०** केन्द्रीय सरकार की सेवा में **ले०** 1956 **प्र०** मेरी कविता मेरे गीत **पु०स०** 1971 में साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत

पता : 1, मेफ्लावर, चार्मिकल रोड, बम्बई

रचना 128—136

मोती लाल क्यमू

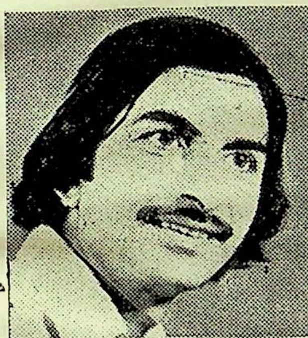


ज० 24-6-1933 (श्रीनगर) **पि०** पं० जिया लाल **मा०** श्रीमती तारावत **शि०** बी० ए० कत्थक नृत्य, ड्रामैटिक्स **वि०** 22-10-1952, श्रीमती कौशल्या देवी **व्य०** ज० क० कल्चरल अकादमी में उपसचिव **ले०** 1963 **प्र०** तीन असंगत एकांकी, त्रुनोव, छाया

पता : द्वारा कल्चरल अकादमी, जम्मू / श्रीनगर

रचना पृ० 138—172

सतीक्षण कुमार शर्मा 'आनन्दम'



ज० 17-4-1939 (जम्मू) **पि०** श्री भोला नाथ कविराज **मा०** श्रीमत दुर्गा देवी **शि०** बी०ए०, प्रभाकर, बी० ई०सी० **वि०** 8-2-1972, श्रीमती सुदर्शन देवी **व्य०** अध्यापन **ले०** 1953 **प्र०** तिनके और तिनके, देखती आकाश आंखें, कांप कांप रहा चक्रबन्धु, नौका का इतिहास, हम हैं बालक भारती

पता : 402, अम्बफला, जम्मू।

रचना : पृष्ठ 173—198

नये पुरानें झरोखे

शंकर शर्मा 'पिपासु'

लगभग 1937—38 में जब मैं स्कूल की पढ़ाई छोड़ चुका था और निरुद्देश्य जीवन व्यतीत कर रहा था, उन्हीं दिनों मैं अपने दो सहपाठियों के साथ जम्मू नगर के राम नगर के इलाके में भ्रमण कर रहा था कि रास्ते में मेरे मुंह से 'कुदरत की हर बात निराली''— शब्द सस्वर उच्चारित हुए। फिर क्या था ? हम तीनों एक एक बड़े पत्थर पर बैठ गए और बारी-बारी तुकबन्दी करते रहे। अन्ततः यह एक गीत जैसा बन गया और हमने मान लिया कि यही कविता है। धीरे-धीरे मेरा तुकबन्दी करने का अभ्यास बढ़ता गया और फिर श्रीमान मास्टर जियालाल 'वसंत' जी से कविता गीत आदि संशोधित करवाता रहा।

मैं स्कूल में मैट्रिक तक उर्दू माध्यम से पढ़ा था किन्तु कल्याण, माधुरी, सरस्वती आदि पत्रिकाओं को पढ़ने के कारण मेरी रचनाओं की शब्दावली हिन्दी होती गई और मुझे विवश हो कर हिन्दी भूषण तथा प्रभाकर की परीक्षाएं पास करनी पड़ीं जिस से हिन्दी साहित्य संसार से मैं उन दिनों परिचित होता गया और इस प्रकार उर्दू का न हो कर हिन्दी का कवि अपने साथियों तथा नगर के आचार्यों में समझा जाने लगा।

अन्त में मैं अपने उपनाम 'पिपासु' के विषय में कुछ कहना चाहूंगा। जिन दिनों आरम्भ में मैं हिन्दी साहित्य से पत्र-पत्रिकाओं द्वारा परिचय प्राप्त कर रहा था तब नाथू राम 'शंकर', महाकवि भूषण के भाई जटा शंकर, उदय शंकर भट्ट तथा जय शंकर प्रसाद आदि अनेक शंकर नामों से प्रभावित हो कर अपने नाम शंकर दास शर्मा से सन्तुष्ट न हुआ और सोचा कि एक अलग पहचान के लिये शंकर शर्मा 'पिपासु' नाम से ही साहित्यिक संसार में उपस्थित होना चाहिये। वैसे भी 'पिपासु' एक इच्छा या खोज में बल प्रदान करने वाला शब्द है। अतः इसी शंकर शर्मा 'पिपासु' नाम से साहित्यिक संसार में अपने आप को जाना-जाना श्रेयस्कर समझा।

दो पंछी

दो पंछी हैं, दो पिंजरों में दोनों के हैं द्वार खुले—
दोनों में है माया ममता, दोनों में है विरह विषमता
दोनों में उड़ने की क्षमता
पर दोनों पिंजरों के सम्मुख हैं सामाजिक जाल तने।
दो पंछी हैं दो पिंजरों में दोनों के हैं द्वार खुले।

वे समाज को पार करें क्यों ? वे अपना उद्धार करें क्यों ?
मन पर यों अधिकार करें क्यों ?
वे तो हैं उनकी सम्पत्ति पा जिन का हैं प्यार पले ।
दो पंछी हैं दो पिंजरों में दोनों के हैं द्वार खुले।

दोनों के दृग मिल न सकेंगे, दोनों के दिल खिल न सकेंगे
दोनों ही भर दिल न सकेंगे ।
आशाओं के मधुगानों से, हो जीवन भी भार भले ।
दो पंछी हैं दो पिंजरों में दोनों के हैं द्वार खुले।

एक ओर बेजोड़ जवानी—जलती, जग करता मन-मानी ।
और दूसरी ओर कहानी—
एकाकीपन की है केवल, जिसका जीवन भार जले
दो पंछी हैं दो पिंजरों में दोनों के हैं द्वार खुले ?

दुर्गा दत्त शास्त्री

राष्ट्रीय कविताएं विद्यार्थी अवस्था में पढ़ीं, गुनगुनाईं । इच्छा हुई कि मैं भी कुछ अर्ध्य देश के प्रति चढ़ाऊं। कुछ स्वर प्रेममय भी थे पर उन में अमर्यादित शृंगार नहीं था। सम्भव है उनमें रहस्यवाद एवं छायावाद की झलक भी दिखाई देती रही हो । अनन्तर काफी लम्बे अरसे तक परिस्थितिवश कुछ नहीं लिखा और जो लिखा भी—वह व्यर्थ चला गया । अब पुनः लेखन की ओर प्रवृत्त हो चला हूं। स्थानीय संस्थाओं द्वारा आयोजित गोष्ठियों एवं रेडियो कार्यक्रमों के लिए कविताएं कहानियां तथा लेख आदि लिखता रहता हूं।

गीत

गीत मेरे सो गए हैं, मैं इन्हें कैसे जगाऊं
फूल जो कुम्हला गए हैं, मैं उन्हें कैसे खिलाऊं
हर चुभन सहने को मैं तैयार हूं पर
भग्न दिल-दर्पण को मैं कैसे जुड़ाऊं

जानता हूं फूल कांटों में खिला है
दीप उजियारा, तपन में ही पला है
हर नगीना रत्न पद पाने से पहले
लाख मुश्किल में पड़ा है, तब ढला है
दुःख मुझे स्वीकार है पर मीत मेरे
छल कपट से मैं जगत कैसे रिझाऊं

तार टूटी बीन सा, तुम बिन व्यर्थ मैं
लुट गईं जिसकी बहारें ठूंठ वो हूं
हर कदम की धूल हूं मैं तुझ को खोकर
जिसकी मंजिल ही नहीं मैं राह वो हूं
पर तुझे पाने की शर्तें हैं कलंकित
प्रेम पावन है उसे, कैसे लजाऊं

चन्द्र कांत जोशी

साहित्यिक विधाओं में मेरी प्रकृति एवं रुचि विशेषतः कविता में है। कोई गुनगुनाहट लय, मति, यति—किसी भाव के संयोग से गीत कविता अथवा मुक्तक का रूप ले लेती है। प्रायः मैं निराशा से संघर्ष करता हुआ आशा की ओर बढ़ने का प्रयास करता हूं। मेरी कविताओं का वर्गीकरण निम्नलिखित वर्गों में हो जाता है :—

I प्रणयात्मक
II प्रगतिवादी
III राष्ट्रीय
IV सामाजिक

नभ–मंथन

देव शक्ति ने
दैत्य शक्ति संग
पुरा काल के
एक समय में
क्षुब्ध-क्रुद्ध सागर के तरंगाघात
पर
कर
प्रबल वेग से कठोराघात
सागर-मंथन कर डाला था
उसका समग्र मथ डाला था
रत्नों का भंडार निकाला था
और अब—
मानव की बारी आई है
वह उड़ता जाता है
नभ का मंथन करने।
जन यात्रा पथ का
यह अभियान कठिन है
हर सोपान कठिन है
मनु बलिदान कठिन है

पाथेय—
केवल
साहस सम्बल
विश्वास अटल
विज्ञान ज्ञान, कला शिल्प के
पंख तोल वह उड़ता जाता
निर्भीक अचल
नील गगन में मच गई हलचल
चकित जल, थल, अनिल, अनल।

सौर जगत
ग्रह-नक्षत्रों के
अभेद्य-भेदों का भेदन कर
प्रकृति के सुन्दर छिपे रहस्यों के पर
उद्घाटित कर
पृथ्वी-मां की भेंट चढ़ाता
मानव है
ऊंचा चढ़ता जाता
देखो—
वह नभ-मंथन करने जाता है।
युग युग से जो
प्रिय-प्रिया के हृदय लुभाता था
बच्चों का मामा कहलाता था
सुन्दरी मुख की समता पाता था

उस बूढ़े चांद का रूप
क्षण ही क्षण
अपरूप हो गया

समय बदलता
कोण बदलते
मूल्य बदलते

नियति का विधान
चन्दा तो पहला सोपान
अभी तो शुरू हुआ है
गगन अभियान ।

टूट रहा कल्पित गर्वित देवों का
मिथ्या अहम्
अभिमान ।

विजयी हो
धरती का
नवयुग
नव इन्सान !

डा० गंगा दत्त 'विनोद'

मेरा कवि-जीवन हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रांगण में आरम्भ हुआ। तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव के अन्तर्गत मेरी कविता छाया, निराशा और देश-प्रेम की सम्वेदनाओं को लेकर बह निकली। अनन्तर मेरी कविता काल-सापेक्ष सत्यों से साक्षात्कार करती विभिन्न भाव-भूमियों का आसन ग्रहण करती रही। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद मेरे कण्ठ से नव-निर्माण के गीत भी फूटे और एक लम्बी यात्रा के बाद मेरी कविता सन् 1963 में 'उल्लोल' (कविता-संग्रह) में आकर विविध भावों का इन्द्रधनुषी रूप लेकर एकाकारता में प्रतिष्ठित हुई। इन इन्द्र-धनुषी भावों में श्रेष्ठ स्थान भावुकता का रहा।

जिस संस्कार में से किशोर-कवि-हृदय गुजर चुका है, उस का प्रभाव अब भी अक्षुण्ण है, ऐसा मानना ही पड़ेगा। प्रकृति-रमणीयता के गीतों में, नारी तन की मधुरिमा से स्पन्दित मानस में वीचि-विलास के कम्पन के स्थान पर दैवी सौन्दर्य की सूक्ष्म अनुभूतियां हैं। अपनी कविता प्रक्रिया में सदा यही प्रयत्न करता रहा हूँ कि स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाऊँ मन की गहराइयों में बैठकर हृदय की संवेदनाओं और यथार्थ अनुभूतियों को वाणी दूँ, किन्तु कभी-कभी सूक्ष्म और वायवीय भावों की अभिव्यक्ति के लिये भाषा के संयोजन में कठिनाई अवश्य आती है और कभी स्वाभाविक भावोद्गार अपना मार्ग स्वयं बना लेते हैं। सूखी राजनैतिक नारेबाजी और उफानी कविता लिखने के स्थान पर अन्तर्मुखी एवं भावप्रवण छन्द रचना को मैं विशेष मान कर इसी प्रक्रिया पर आज तक चलता आ रहा हूँ। मेरी मान्यता है कि बहिर्मुख हो कर गुनगुनाने से अन्तर्मुखी होना अधिक सुन्दर है।

गीत

उर में अन्तर्ज्वालि जला कर,
तन को हिम सा घुला घुला कर,
चिन्तन की मदिरा के मद में,
करता हूँ मुखरित मन का पायल,
क्यों कहता जग मुझको पागल।

दूर हटा कर अपने नाती,
विजन साधना मुझ को भाती,
जग के कोलाहल से बच कर,
रहता हूँ भावुकता में विह्वल।
क्यों कहता जग मुझको पागल।

जग सुख की निद्रा में सोता,
मुझ को आकर्षण नहीं होता,
उर की मीठी धड़कन लेकर,
जगने में हूँ मैं अति चंचल,
क्यों कहता जग मुझको पागल।

जानकी नाथ कौल 'कमल'

विधि ने मेरी जीवन-वीणा को विक्षिप्त बना दिया है। इस के तार, कई तो हिल-मिल कर हैं और कई छिन्न-भिन्न। पता नहीं किस निक्कू-नक्षत्र ने इस मेरी वीणा से खेला है। इसकी झंकार अब भी सुरीली है, परन्तु विक्षेपों से रहित नहीं। मेरी वीणा तो सुन्दर-सुडौल मुझे प्रतीत होती है, परन्तु मयूर जिस भान्ति अपने चरणों की ओर दृष्टिपात करते ही अपने सुमधुर नृत्य को भूल, विकल होता है, ठीक उसी भान्ति मैं जीवन-वीणा के इन तारों को देखते ही, इसके मधुर सुरों को भूल कर व्याकुल हो उठता हूं। यही व्याकुलता मेरी वीणा को व्याकुल बना देती है।

मुझे तो इसी में आनन्द है क्योंकि दो विक्षेपों के अनन्तर इस झंकृत वीणा के तार मुझे इतना रस-मुग्ध कर देते हैं मानो संसार में इस के अतिरिक्त और किसी वस्तु की सृष्टि नहीं। विक्षिप्त वीणा विश्व-वीणा बन जाती है। यही तो मेरे जीवन के अनमोल आनन्द की घड़ियां हैं। सीमित स्वत्व से उठ कर जब भावुक मन असीम में अपने आपको खो बैठता है तब साधारण जीवन की झांकी ही बदल जाती है। विचित्र भावनाओं से अनुभावित होकर यह मानव विश्वमानव बन जाता है, जहां किसी असाधारण आनन्द का अनुभव होता है। हृदय का प्याला जब इस अनुपम आनन्द से भर जाता है तब अवश्य इस से छलकन बाहर गिरने लगती है। इसी छलकन को लोक में 'कविता' का नाम मिला है। परन्तु यह मेरे निकट सुमधुर आनन्द के क्षण हैं।

अनुपम यह तम्बूर

अनुपम यह तम्बूर
हे विराट् ! हाथों से तेरे
बजता जग-सन्तूर

ज्ञान-कर्म के दो हाथों से
बाहर-भीतर के श्वासों से
स्थावर-जङ्गम भाव-रूप में
चलता है भरपूर
अनुपम यह तम्बूर

कोयल की यह कूक मनोहर
काग-कांय वह बनता दूभर
मिश्रित मनहर ध्वनि में कैसे
नाच रहा मन शूर
अनुपम यह तम्बूर

वन बीहड़ में हरि के हरि यह
धाड़ रहे अरु दौड़ रहे यह
सर्प-जाति निस्तब्ध भाव में
बाज बजाते दूर
अनुपम यह तम्बूर

जग के कोलाहल में स्वर है
व्यथा व्यथित-मन के निर्भर है
पलकों से चुपके से बहती
दग्ध निराशा क्रूर
अनुपम यह तम्बूर

स्वर्निल भविष्य ध्वनिमय बजता
भूत-भूत-घन-गौरव लजता
वर्तमान की चञ्चल छाया

उड़ता है कपूर
अनुपम यह तम्बूर

फेनिल नीरधि निन्द्य नहीं है
घन-गर्जन का बिन्दु यही है
सिन्धु-बिन्दु का योग मापने
चलती है ध्वनि पूर
अनुपम यह तम्बूर

हे विराट् ! हाथों से तेरे
बजता जग-संतूर
अनुपम यह तम्बूर

श्याम दत्त 'पराग'

मुझे अभी तक वे क्षण स्मरण हैं जब 14 जुलाई 1949 को, जब मैं कटड़ा के पास एक गांव में था, अकस्मात् मुझ पर कविता उतरने लगी। वह कविता वर्णन प्रधान थी, जो गीत के रूप में लिखी गई थी। दूसरे दिन फिर एक गीत हुआ। इसी प्रकार रोज कुछ न कुछ होने लगा। मुझे तो ऐसा प्रतीत होने लगा मानो कविता का मेरे साथ परिचय स्थापित हो गया है और वह समय निकाल कर नित्य मुझसे मिलने आया करती है।

मैंने अपनी कविता को वाद-मुक्त रखने का यथासंभव प्रयास किया है। किन्तु स्वीकार करता हूं कि मैं अपने को छायावाद एवं रहस्यवाद के प्रभाव से बचा नहीं पाया।

साहित्य क्षेत्र में अग्रसर होने में मेरे पूज्य पिता स्व० श्री वली राम नागर का मार्ग-दर्शन मेरा प्रमुख सम्बल रहा, जिसके लिए मैं आजन्म उनका आभारी रहूंगा।

गीत

बिन साजन सावन नहीं भाए।

मस्ती छाई मन्द पवन पर,
तरुणाई है वन उपवन पर,
चातक का पी पी स्वर सुनकर,
नयनों से निंदिया उड़ जाए,
बिन साजन सावन नहीं भाए॥

मेघा रिम झिम बरसन लागे,
आंचल भू का सरसन लागे,
नील गगन में बिजली चमके,
तन मन भीतर आग लगाए,

बिन साजन सावन नहीं भाए॥

झरनों का कल कल कर गाना,
शशि का घूंघट में छिप जाना,
सुमधुर स्वरों में कोयल कूके,
बार बार जिय को अकुलाए,
बिन साजन सावन नहीं भाए॥

जब से रूठ गए रे सईयां,
सूनी हैं पलकों की छईयां,
वन्दनियों की पायल झनके,
छम छम छम नीर बहाए,

बिन साजन सावन नहीं भाए॥

सुभाष भारद्वाज

आज के समस्या-संकुल जीवन में, जहां बीतता हुआ प्रत्येक क्षण अपने साथ प्रश्नों की एक भीड़ ले कर आता है, तथा हर सूर्योदय एक नई चुनौती के साथ प्रकट होता है, वहां सांस लेते हुए हर इन्सान की भंगिमा में तैरते हुए प्रश्नों और चुनौतियों को किसी न किसी विधा में वाणी देने की क्षमता को सार्थक लेखन का अभिधान दिया जा सकता है। मेरी रचनाओं में निजी एवं अपनी सहयात्री पीढ़ी द्वारा झेले जा रहे प्रश्नों और चुनौतियों की कसक को लिपिबद्ध करने का सहज प्रयास देखा जा सकता है। संक्षेप में मेरी रचनाशीलता की भाव-भूमि का धरातल यही है। परिवेशगत यथार्थ को जोरदार शब्दों में उठाना-उभारना मैं अपना लेखकीय दायित्व समझता हूं।

विगत तीन दशकों में समसामयिक जीवन में हुए बहुमुखी परिवर्तनों के कारण जहां सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य मान्यताएं और विश्वास भंग हुए हैं, वहां साहित्य में भी लगभग सभी पुरातन रूढ़ियों और परम्पराओं का ढांचा धूलिसात् हो कर रह गया है। लेखन दूसरे इन्सानों के लिए है न कि लेखक के केवल अपनी कोटि के इन्सानों के लिये। कुछ लेखकों की लेखनी किसी दर्द से स्वयं संतप्त न होते हुए भी दर्द की बात करने के लिये अभिशप्त दिखाई देती है। यह साहित्यिक ऐयाशी के सिवा कुछ नहीं। आधुनिकता के नाम पर व्यक्तिगत ग्रन्थियों के ऊहापोह की धुन्ध को साहित्य कह कर उछालना मेरी दृष्टि में साहित्यिक अपराध है, जिस से मैं सदा बचने की कोशिश करता रहा हूं।

बहुत समीप से झेले अथवा देखे हुये यथार्थ को भी मैं कभी-कभी तत्काल लिपिबद्ध नहीं कर पाता। इसे मेरी आदत अथवा कलम का आलस्य कहा जा सकता है। लेकिन महीनों के मौन के बाद जब बांध टूटता है तो लेखनी से एक अजस्र प्रवाह फूट पड़ता है। और यह प्रक्रिया बहुत दिनों तक अबाध गति से चलती रहती है।

मनसा राम शर्मा 'चंचल'

विचाराभिव्यक्ति मानव-जीवन की एक नैसर्गिक क्रिया है। ये विचार हमारे परिवेश, अनुभूतियों. प्रतिक्रियाओं और प्रेरणा की सहज देन होते हैं। इन मनोभावों और कल्पनाओं को गायक मूर्तिकार और चित्रकार—सभी—अपनी कला के माध्यम से मूर्त्त रूप देते हैं। एक साहित्यकार विचाराभिव्यक्ति के लिए अपनी कृतियों का माध्यम चुनता है। यही एक प्रक्रिया है जो रचना के लिए सहज और स्वाभाविक है। यह दूसरी बात है कि वह रचना कविता, कथा, नाटक या निबन्ध—कुछ भी हो सकती है. लेकिन एक व्यक्ति को साहित्य के एक ही क्षेत्र में विशिष्टता उपलब्ध होती है, फिर चाहे वह कितना ही दूसरे क्षेत्रों में भी आधिपत्य क्यों न जमाना चाहे।

मैं भी इसी स्वाभाविक प्रक्रिया की एक देन हूं। मनोद्गार या विचाराभिव्यक्ति जब उत्प्लावित हो उठती है तो उसे लेखनीबद्ध करना ही पड़ता है। वह कविता भी होती है, कहानी भी या कुछ और भी।

आज से 25 वर्ष पूर्व जब मैंने प्रथम कविता लिखी तो एक उल्लास का आभास हुआ, जैसे कि मैंने कोई बहुत बड़ी विजय प्राप्त की हो और मित्रों ने उसे सराहा भी। उसके बाद कवि-गोष्ठियों और साहित्यिक मित्रों के संसर्ग ने आगे बढ़ाया।...

मैं अपनी साहित्यिक यात्रा में उन जाने-अनजाने मित्रों का आभारी हूं जिनसे मुझे लेखन कला के लिए प्रेरणा मिली या जिन्होंने मुझे उत्साहित किया।

क्योंकि
मैं जानता हूं
कि मेरा यह मित्र
अपनी आवारा मुस्कान की
गंध में बांध
गल बाहें डाल
आज फिर मुझे
ले जाएगा
वही असंगत और अश्लील
नाटक देखने।
चला जाता हूं
रोज़ इसके साथ मैं
बस इसी आशा में
कि शायद वहां कभी
कोई राम आगे बढ़कर
मारेगा किसी रावण को।
अथवा
किसी कृष्ण से
सुन कर गीता
कभी कोई अर्जुन
पछाड़ेगा किसी दुर्योधन को
पर किसी दिन भी कभी
ऐसा कुछ नहीं होता।
बस परदा उठते ही
ढेर सारे पात्र
रंगमंच पर चढ़ कर
अपने नाटककार को
देते हैं गालियां।
अपने सूत्रधार का
मुंह काला करने को
मलते हैं
अपने अपने हाथों पर स्याही।
और तब
अपने नाटककार अथवा

अपने सूत्रधार को
न पाकर वहां
देते हैं सभी
एक दूसरे को गालियां
फाड़ डालते हैं
एक दूसरे के वस्त्र
तोड़ डालते हैं
एक दूसरे की टांगें
निकाल लेते हैं
एक दूसरे की आंखें
और अपने हाथों पर
मली हुई स्याही को
एक दूसरे के
मुंह पर पोत देते हैं।
और तब
देखकर यह सब
विचित्र, व्यर्थ, वीभत्स
अश्लील, अभद्र, असंगत
मरने लगती है
मेरे भीतर
लिखी हुई रामायण
और खण्ड खण्ड होने लगते हैं
मेरी मांस-पेशियों पर
लिखे हुए गीता के श्लोक
और तब मैं अपने उस
आवारा मित्र को कोसता हूं
लेकिन रोज ही फिर
वही नाटक वाला झांसा देकर
वह मुझे वहीं ले जाता है
पर वहां
आखिरी पर्दा गिरने तक भी
नाटक कभी शुरू नहीं होता।
होती है केवल खाली
एक बड़े नाटक जैसी चहल पहल

उत्सुक तुम और यह टूटा रिकार्ड

कुछ आड़े-तिरछे मकानों
और संकरी गलियों के बीच
रात एक परेशान चिमगादड़-सी
अपने डैने फड़फड़ा रही है
अपने कमरे की दीवारों को
इस कुरूप शोर से बचाने के लिए
मैंने खिड़की बन्द कर दी है
और पर्दे गिरा दिए हैं।
यह विश्वास कि मेरी खिड़की किसी दिन
उन रंगों में खिल उठेगी
जिन में गुलाब हंसते हैं
कब का मर चुका है
मेरे लिए खिड़की खोलना
अब एक प्रतीक्षा नहीं
सिर्फ अभ्यास भर है।
मैंने खिड़की बन्द कर दी है
और उस कुरूप शोर को बाहर रोक दिया है
जो चिमगादड़ के डैनों में फड़फड़ाता है।
मैं अपनी बुझ रही सिगरेट का
अंतिम कश ले रहा हूं।
शायद मैं कुछ लिखना चाहता हूं
मगर मैं ऐसा नहीं करता
क्योंकि तुम मेरी हर हरकत को घूर रहे हो
और मैं तुम्हारी आंखों में पढ़ रहा हूं यह उत्सुकता
कि मैं अपने कोट की जेब से निकालूं
वह खूबसूरत कथा
जिसका एक छोर संगमरमर के फव्वारों से भीगा हो
और दूसरा उस महकती हवा से

एक मूर्च्छित विदूषक

सिर पर वांधे
वही रेशमी रूमाल
माथे पर लगाए
कुंकुम का
वही वड़ा सा टीका
सुवह सुवह
वही मेरा
वरसों पुराना मित्र
आज फिर आया है ।
और आज फिर उसने
मेरे घर का
पूरवी द्वार खटखटाया है ।
आज फिर उस ने मुझे
बिस्तर पर से उठते उठते
गले से लगाया है ।
और इसके आने से
खुल गये हैं
मेरे घर की
खिड़कियों के कान
झरोखों की आंखें
और मिल गई है
मुण्डेरों को वाणी फिर से ।
मित्र को पाकर तो
सभी खिल उठते हैं
पर मैं मुरझा जाता हूं
सब मचल जाते हैं
पर मैं हो जाता हूं
जड़ और निष्प्राण ।

साकार कल्पना

आज मैं खुश हूं कि मेरी कल्पना साकार है।
इस विजय का पर हृदय पर इक मधुर सा भार है।

स्वर्ण किरणों से सुवेष्टित इक नया सा भोर आया।
और कमणित इस सरित का एक सुरभित छोर आया।
खिल उठा है हर्ष विह्वल इस धरा का आज कण-कण।

और मुखरित हो उठा अब यह सकल संसार है।
आज मैं खुश हूं कि मेरी कल्पना साकार है।

मैं मनुज हूं इसलिए संसार से ही नेह मेरा।
औं बना है सुख दुखों का इक समन्वय गेह मेरा।
यों अचानक तुम मिले हो इक नयी मनुहार लेकर।

आज मैंने पा लिया यों चांद पर अधिकार है।
आज मैं खुश हूं कि मेरी कल्पना साकार है।

मिलन यह भी इक घरौंदा बन न जाए भीत हूं।
किस तरह तुम से यह कह दूं मैं तुम्हारा मीत हूं।
रास्ते में दो पथिक यों जब अचानक मिल गए हैं।

फिर हुआ कहना यह संभव कल्पना साधार है।
आज मैं खुश हूं कि मेरी कल्पना साकार है।

शशिशेखर तोषखानी

रचना मेरे लिए प्रक्रिया के साथ-साथ एक प्रतिक्रिया भी है—प्रतिक्रिया ग्रांतरिक और बाह्य परिवेश के निरन्तर बढ़ रहे दबावों के प्रति जो सभी ओर मन को कसे हुए हैं। परिवेश का यह संघर्ष, तनाव की ऐसी स्थितियों को पैदा करता है, जो नसों को तड़का देती हैं। इस प्रकार रचना का क्षण मेरे लिए असहनीय तनाव का क्षण है—एक ऐसा क्षण जिसमें मैं मुखौटों के नीचे छिपे ग्रादमी के अपने—क्षत-विक्षत चेहरे की निर्मम वास्तविकता से सीधा साक्षात्कार करता हूं।

कविता कागज़ पर उतारने से पूर्व कुछ ऐसा महसूस होता है कि घुमड़ते हुए अनाम दर्द का सैलाब पसलियां फोड़ कर बाहर निकलने को बेचैन है और जब कविता लिखी जा चुकी होती है तो ज्वार के उतरने की-सी स्थिति का एहसास होता है। वस्तुत: व्यक्त होने से पूर्व अनुभूति की शब्दहीन स्थिति ऐसे chaos की स्थिति होती है जिसे परिभाषित नहीं किया जा सकता। यह शब्दहीन-नामहीन अनुभूति जो एक अरूप दर्द के रूप में भीतर कसक रही होती है, कौन-सा व्यक्त रूप धारण करेगी, इसके बारे में लिखने से पूर्व कुछ भी कहना संभव नहीं होता, पर प्राय: यही होता है कि सम्बद्ध-असम्बद्ध बिम्बों का एक सिलसिला शाब्दिक रूप ग्रहण करता हुआ कागज़ पर उतरता है।

घोर कष्टकर होने के कारण लिखने के क्षण से प्राय: जहां तक हो सके बचते रहने की कोशिश करता हूं और अधिकतर समय परिवेश से एक तनावपूर्ण सम्बन्ध बना रहता है। इस तनाव का संदर्भ है समसामयिक जीवन-यथार्थ, उससे जुड़ी असंगतियां और उससे उभरते सवाल, अस्तित्व को बनाये भर रखने के उपक्रम में किये गये समझौतों से उत्पन्न टूटन, रिक्तता, घुटन, अर्थहीनता के अनुभव और चेतना के विभिन्न स्तरों पर झेली गयी यातना। इस यातना का तीव्र बोध या आक्रोश और विरोध की भावस्थितियां केवल वैयक्तिक जीवन के वृत्त तक सीमित नहीं, मानवीय पीड़ा के व्यापकतर संदर्भ से सम्बद्ध हैं। मानवीय स्थिति की भयावहता को तो कविता बदल नहीं सकती, लेकिन उसके विरुद्ध एक चीख ज़रूर हो सकती है—और मेरी कविता अगर कुछ है तो यही चीख है।

बस वही दौड़-धूप
उछल कूद
और वही मारपीट।
और तब हांप कर
सभी पात्र
अपने अपने मुखों की
स्याही धोने
नेपथ्य में चले जाते हैं।
हो जाता है मंच खाली
गिर जाता है
आखिरी परदा।
और तब मेरा मित्र मुझे
अपनी सलेटी साड़ी वाली
प्रेमिका के साथ
लौटा देता है।
और वह
मुझे पहुंचा कर
मेरे घर के
पश्चिमी दरवाज़े पर
अगली गली में चली जाती है।
और तब
वहां रह जाता है केवल
बहरी खिड़कियों
अंधे झरोखों
और गूंगी मुण्डेरों वाला घर
और रह जाता है
उस के किवाड़ों पर
सिर पटकता हुआ
एक मूर्च्छित विदूषक।

रतनलाल शान्त

कश्मीर के अन्य कविता-कर्मियों की ही तरह मैंने भी छायावादी आभास की कविता से लिखना शुरू किया। आभास इसलिए क्योंकि छायावाद काल की मृत्यु के बाद मेरे समवर्तियों और मैंने लिखना शुरू किया। तब छायाएं अभी मंडरा रही थीं। अत: मेरी कविता छायाभास जीवी थी। चार-पांच वर्ष बाद मेरा सम्पर्क समकालीन कविता के साथ हुआ और मेरे अनजाने ही मेरा लहजा बदलने लगा और मुझे एक दिन लगा कि जिन किरणों को मैंने संजीवनी माना था वे खोटे सिक्के की तरह निरर्थक हो गयी हैं। तब अपने इस निरर्थक अस्तित्व और परिवेश में मेरा कोई स्थान है?—इस प्रश्न से अपने आप को उलझा पाता हूं।

'क्या गीत लिखने की होती है ऐसी ही मरणधर्मा स्थिति ?

वस्तुत: मैं अनुभव करता हूं कि पहाड़ों से घिरी अलंघ्यता, दुरुहता से घिरी इस घाटी की हवा में बहुत ऐसा है जो सिर्फ मेरा यथार्थ है, जिसकी तीव्रता सबसे ज्यादा मुझे कौंच सकती है। पहाड़ों का कारावास मेरे जीवन और लेखन को अभिशप्त किए हुए है।

मेरी एक बड़ी ट्रेजेडी है अभिव्यक्ति! हर कविता लिखने के बाद मुझे लगता है कि मैं कथ्य को अकथित छोड़ गया हूं। आवाज बाहर निकलती है और बावजूद इस तथ्य के कि मेरा सम्प्रेषण सम्पूर्ण होने की घोषणा मेरे आलोचक करते हैं, आवाज की अनुगूंज बहुत देर तक मुझे सालती रहती है। मैं जानता हूं कि मैं अब बहुत से एकरंगे सत्यों को पालने को प्रतिश्रुत हूं और ये सत्य समूहों में एक बड़ा सा प्रतिनिधि झण्डा फहराते मुझ तक चले आ रहे हैं। मेरी विवशता और व्यर्थताजन्य प्रतिबद्धता इस जुलूस के प्रति है जो मेरे कानों पर और मेरी जबान पर असंख्य चित्र चिपकाता जा रहा है और जब मुझ से अपना सत्य कहने को कहा जाता है तो बोलते वे चित्र हैं। मुझे सिर्फ होंठ हिलाने होते हैं।

शायद यही वजह है कि अभी तक जुलूस के सत्य को 'मैं' कह नहीं पाया—भले ही मेरे होंठ थिरके और आवाजें निकली हों।

डा० ओम प्रकाश गुप्त

निजी रचना-प्रक्रिया पर कुछ लिखना जितना लोभजन्य है उतना ही कठिन। जब कोई व्यक्ति अपनी कृति को स्वयं देखता है तो यह दृष्टिकोण नितान्त वैयक्तिक होता है। मुझे यह कहना बहुत भारी जान पड़ता है कि कह देने के बाद, बात समाज की हो जाती है और लेखक से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। हृदय पर कोई 'प्रभाव' सही ढंग से बैठ सके या प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सके, उसके लिए किसी घटना का घट जाना अनिवार्य नहीं है; यह बात अलग है कि आज की दुनियां में ऐसी घटनाएं, जो किसी समय हृदय को झकझोर दिया करती होंगी, बहुत आम होकर प्रभाव खो चुकी हैं, यह फैसला कर पाना भी बहुत मुश्किल है कि प्रतिक्रिया में हृदय की भूमिका अधिक है या बुद्धि की। हृदय और बुद्धि को अलग करके देखना विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण है और अभी तक कोई शल्यक दोनों को अलग नहीं कर सका है। किसी का व्यवहार या अव्यवहार क्यों हमें झकझोर देता है, अपनी समग्र मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों के बावजूद हम इस प्रश्न का सही उत्तर पाने की तलाश में अक्सर लड़खड़ा जाते हैं।

मेरे चारों ओर, जीने की पीड़ा भोगने वाला देश, समाज, परिवार मुझसे अलग नहीं है। इनकी समस्याएं मेरी समस्याएं रही हैं, इसीलिए कहीं बाहर से फेंके गए समाधान मुझे कचोटते रहे हैं। ताल के किनारे अंधेरे कोने में बैठकर श्यामांग पत्तियों की माला कभी सुलझा नहीं पायेगा। शायद इसी नकारात्मक विश्वास से उपजी खीझ के कारण मित्रों को मेरे व्यवहार में एक तीखापन दिखाई देता है। बात को भूल भुलैयां में डाल कर रास्ता लम्बा करना भी मुझे नहीं सुहाता, इसीलिए दो टूक बात करने का आदी हूं।

एक नयी कविता का उदय

चढ़ती उतरती सीढ़ियां
एक फैला हुग्रा मकान
एक सिकुड़ा हुग्रा घर
एक ज़िन्दा कैनवस
एक मरा हुआ शहर।
छोटे लम्बे बहुत से ब्रश,
ग्राढ़ी टेढ़ी रेखाग्रों का रश.
ऊबड़-खावड़
प्रयोगों की कतार
धरती में गहरे—
धंसे हुए सस्कार।

टूटे पंखों को
आज़ाद हवाग्रों से प्यार
हर पहली तारीख से बहुत पहले
नोटों की गट्ठी का इंतजार।

ज़िन्दगी बस
इसी चौखटे में कैद हो गयी है,
चाहत के हर—
ईमानदार—
संस्पर्श के पास आने पर
यूं लगा—
भोगने की ताकत
वेश्याओं के बाज़ार में खो गयी है।
कमरे की हर दीवार—
मोम की तरह पिघल जाती है
वक्त की लंबी तान को
छिपकली की कुदान
निगल जाती है।

तुम मांगते हो इतिहास

तुम मुझ से मांगते हो इतिहास
मैं समर्थ हूं केवल देने में एक लम्बा जुलूस
जो हर बार. हर गली से गुज़र कर
उसी चौक में जा पहुंचता है
जहां न जाने किस समय से वह ईश्वर खड़ा है
जो मौसम बदलने के साथ टूटता है
और अचानक बिजलियां बुझा कर
कौन उसकी हर टूटन पर बासी खबरें मढ़ता है
नहीं कह सकता
क्योंकि मैं नहीं जानता
इसलिए तुम्हारे इतिहास मांगने पर
मैं केवल दे सकता हूं
उसका अखबारों की कतरनों से बना चेहरा
जो उसका कितनवां मुखौटा है
यह कौन कह सकता है ?
क्योंकि समर्थ, असमर्थ सभी व्यक्ति
उस जुलूस के साथ गुजरने के आदि हैं
बैसाखियों के साथ पिन की हुई गर्दनों पर लटकते
चेहरे किसके अपने हैं ?
अपने नहीं हैं किसके ?
कम-अज-कम मैं नहीं जानता
जिससे तुम इतिहास मांगते हो।
तुम मुझ से मांगते हो इतिहास
मैं केवल दे सकता हूं तुम्हें
एक बहुत बड़ी सिल-चट्टान
जिस के आर पार एक तेज चाकू उतरा पड़ा है
एक हाथ हर बार जेब से बाहर आकर
उस चाकू को चट्टान से निकालता है
और घुसेड़ देता है अपने माथे में
अपनी जिह्वा से चट्टान पर उसी के रक्त का

जिस पर कोई रहस्यमयी सुन्दरी
मदिर ओठों से काँपता हुआ चुम्बन
उछाल रही हो।
लेकिन मैं अपनी जेब से
दफ्तर, इमारतें, सड़कें, कारखाने
निकाल रहा हूं
और तुम भयभीत हो।
बाहर डैने फड़फड़ा रहा चिमगादड़
मेरी खिड़की के साथ टकरा रहा है
और मैं सख्त परेशान हूं
मेहरबानी करके मुझे इस बुझ रही सिगरेट के
कुछ और कश लेने दो
और तुम रोजमर्रापन की चादर ओढ़ कर
लेट जाओ।
शायद सपने में तुम फरिश्तों का दिव्य संगीत सुनोगे
और मुझे क्षमा करोगे
(यह और बात है कि मैंने
नगर के बाहर
टूटे पुल के पास
उनकी रीढ़हीन आकृतियों को ठण्ड से ठिठुरते देखा)है
लेट जाओ।
मुझे तुम्हें यह बताने का साहस आज नहीं रहा
कि जिन्दगी-एक टूटे रिकार्ड-सी बेकार है
जो स्वप्न में भी बज नहीं सकता।

समर्पण

उन्हें,
प्राण छूट गए जिनसे
लेकिन जो मुट्ठियां
विवश तूफान लिए कसी ही रहीं
उन बाहों को
जिनकी उड़ने की आकांक्षा ही पर
वज्र गिरे और वे टूट गयीं
उन कदमों को जो किसी अनाम भार से टूट रहे हों
उन आवाज़ों को
चीखें बनकर जीते रहना ही जिनकी नियति है।
आग हमेशा धधके ही यह नहीं जरूरी
कहीं राख में चिनगारी सुलगा ही करती है
लेकिन नभ को छूने जिसने ऊपर हाथ उठाए
उसे अपाहिज कह कर दुनियां बैसाखी देती है
नई दृष्टि पाने जिसने भी अपनी खिड़की खोली
पक्की एक अंधी दीवार उसे सामने मिल गई
द्वार सलाखों के और दीवारें तपते लोहे की
कीलें उसके अंग अंग पर और ओठों पर मुहरें
उसके हर घाव, हर जख्म की एक दवा दी जाती है—
प्रवचन, भाषण, वादे, शोर, निरर्थक आवाजें
उसके अरमान सीलते हैं
और दुनियां को इंतज़ार रहता है उसकी मौत का
कि उसे मसीहा घोषित कर दे —
लेकिन जो टूटता रहा
मसीहा नहीं बना
मेरा गीत उसे समर्पित है।

मोहन निराश

मैंने अपनी यात्रा (शायद) कहानियां लिखने से कि कविता करने से आरम्भ की अच्छी तरह याद नहीं। किन्तु जल्दी ही पूर्णरूप से कविता की ओर चला आया। वादों की भीड़ में से मैं भी (अन्य मित्रों के साथ साथ) गुज़रता गया। प्रेम-प्रगीत, राष्ट्रवाद-स्वच्छन्दता वाद, छाया तथा रहस्यवाद, यथार्थवाद, प्रयोगवाद,—कहीं न कहीं किसी न किसी कविता में कोई न कोई बात आ ही जाती है। और फिर ऐसा अनुभव भी पाया कि सारा तिलिस्म टूट गया था। सारे भ्रम समाप्त हो चुके थे।

अब मैं (अन्य बिन्दुओं के साथ) ऐसे धरातल पर आ चुका था, जब सारा वातावरण तो बन चुका था किन्तु मैं नहीं था। अपने आप से अलग होकर खुद के विषय में सोचना अनिवार्य हो गया। नया भाव-बोध, नई चेतना, नवीन शिल्प ने जन्म लिया। अब ज़रूरी हो गया था भीड़ के साथ-साथ चलते हुए भीड़ से अलग रह कर सोचना कि कौन सी दिशा इस मोड़ की ? आखिर कुछ दूर जाकर हमने खुद को इस भीड़ में गैर-ज़रूरी पाया। और इस रद्द किये जाने की भावना को साफ स्पष्ट शब्दों में सरे-आम कहना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हो गया।

मैं अब भी लिखता हूं। हिन्दी में भी और कश्मीरी में भी। क्यों कि लिखना अब एक मजबूरी है, जैसे जीवन जीना एक विवशता।

मेरा 1972 में एक कविता संकलन निकला—कृष्ण मेरा पर्याय। इसमें मेरी 51 से 69 तक की कवितायें हैं। इस संकलन को राज्य की कल्चरल अकादमी ने पुरस्कृत भी किया (यद्यपि पुरस्कार पाना कोई उपलब्धि नहीं)। यह काव्य संकलन मेरी यात्रा का परिचायक है। (चूंकि मैं अपने अतीत को किसी गैर की यात्रा नहीं समझता) मेरे अतीत का परिचायक है एक और काव्य-संकलन 'अन्यथा नहीं'। जो अभी मेरे एक अन्य कविता संकलन 'हाशिये पर' में की भान्ति हिन्दी भाषा जगत के बड़े बड़े दावों के बावजूद भी साधन न मिलने के कारण अप्रकाशित पड़ा है।

मेरी काव्य यात्रा स्वयं में एक प्रश्न है. जिसे मेरी रचना-प्रक्रिया के बारे में पूछे गये प्रश्न का उत्तर माना जाये, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।

शोर
मुझे पाकर
गालियां थूक देता है
रंग बिखेर देता है,
कूचियां तोड़ देता है
और कैनवस की चिंदियां
उड़कर खामोश हो जाती हैं
मेरी पलकें उठी रहती हैं
आंखें सो जाती हैं

बरसाती नदी की बाढ़ में
बेकार कचरा
तैरता रहता है,
कुछ बह जाता है
कुछ किनारों पर ठहर जाता है।

उधर फटे कैनवस पर
एक नयी तस्वीर
खुद-बखुद उभरती है
कूचियों, रंगों की कराहट
आकार ग्रहण करती है।

आकाश जैसा भी है,
मेरे लिए
मनोरम है
इन ढहते घरों के गम में
मेरा गम भी क्या गम है ?

छत के बरकरार रहते
नशीली ओस
मेरी हर चीज़ भिगो गयी है
एक नयी कविता जाग रही है
पुरानी—
चैन से सो गयी है।

लेप चढ़ा देता है।
मैं इतिहास नहीं—
उस चट्टान में पत्थर हुआ कोई विश्वास दे सकता हूं
जो कितना पुरातन है,
और है कितना शाश्वत ?—
नहीं कह सकता कोई हाथ
क्योंकि हाथ पर खिंची रेखायें
चाकू की नोक उतरने से बनी हैं
जो चट्टान की पीठ से निकली हैं ;
मैं विवश होने पर
चाकू की नोक से अपनी दोनों आखें निकाल कर
तुम्हें दे सकता हूं—
तब भी तुम मुझसे इतिहास मांगते रहोगे।

तुम मुझसे मांगते हो इतिहास
मेरे पास बाकी बचा है केवल एक नारा—
मैं वही दे सकता हूं।
और नारा है—
"तुम्हें इन्कार है जिसे इतिहास मानने से
उसी को इतिहास मानो।"

हाट-बाज़ार में बिक रही कठपुतलियों से जो आंखें
देख रही हैं उनका रंग क्या है ?
जो ज़बानें बिजली के खंभों पर लगे इश्तहार चाट
रही हैं
उनकी भाषा कौन सी है ?
जिस रीढ़ में ताबूत की आखिरी कील उतर गई
वह मनुष्य कहलाने-वाले किस पशु की है ?
जिन चरण-चिन्हों पर सूर्य के घोड़ों के खुर पड़े हैं
उनमें पड़े कीड़ों का यह कितनवां जन्म है ?
रातों में किसी धूमकेतु की किसी दिवस के नाम इबारत
किस लिपि में लिखी गई थी ?
मैं प्रश्नों के रूप में इतने सारे उत्तर दे सकता हूं
इतिहास नहीं
क्योंकि मेरी जेबों में इस नाम का कोई रुपया-पैसा-नहीं।

तुम मांगते हो मुझसे इतिहास
मैं देने में समर्थ हूं

केंचुए, कांतर, छिपकलियां
या यदि दे ही सकूं
तो
दे सकता हूं चिमगादड़
जो हर "मैं" के साथ चिमटे पड़े हैं।
यदि काम चला सकते हो
तो तुम्हें अपना "मैं" दे सकता हूं
क्योंकि तुम जाति-बन्धु हो न मेरे
वैसे तुम मांगते हो इतिहास
मैं
और कितनी सारी तिथियों के साथ
दे सकता हूं
दो खूबसूरत सी मृत्यु-तिथियां
(यह करने में मैं
समर्थ भी हूं
सक्षम भी)
क्योंकि तुम भी मर चुके हो
और मैं भी मर चुका हूं।

पृथ्वीनाथ मधुप

जब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था तभी से थोड़ा बहुत लिखना ग्रारम्भ किया था।

जिस परिवेश में जन्मा-पला हूं वह काव्यमय था। मेरे परम पूज्य पिता स्वर्गीय पण्डित नीलकंठ शर्मा कश्मीरी के एक शीर्षस्थ भक्त-कवि हैं, अग्रज प्रोफैसर जानकी नाथ शर्मा भी 'रसिक' उपनाम से हिन्दी में कविता किया करते थे। ग्रत: कविता बचपन से ही मेरा ग्रोढ़ना-बिछौना बनी।

जब मैं ग्रपने काव्य-जीवन के ग्रारम्भिक वर्षों को मुड़ के देखता हूं तो मुझे लगता है कि उस समय की मेरी रचनाएं सन् साठ से की गई रचनाग्रों से, कथ्य, शिल्प तथा भाव बोध ग्रादि के लिहाज़ से, सर्वथा भिन्न हैं। सन् साठ से ज्यों ज्यों 'समय की सूइयां सरकती गईं' मेरा कवि एक नवीन युग-बोध तथा ग्राधुनिक-संवेदना दृष्टि को ग्रपनाता गया। इस के कथ्य ग्रौर शिल्प पर भी समसामयिकता का प्रभाव पड़ता जा रहा है।

परिवेश एवं परिस्थितजन्य संवेदनाग्रों की ग्रभिव्यक्ति मेरे कवि के लिए ग्रनिवार्य हो जाती है तथा ऐसा करके इसे एक मीठे हल्केपन का ग्रनुभव होता है। पर कुछ क्षण पश्चात ही इसे लगता है कि जो कहना था वह ग्रनकहा ही रह गया।

ग्रपने पाठकों एवं ग्रालोचकों के ग्रधिकारों को भला मैं क्यों छीनूं ? ग्रत: ग्रपने काव्य-शिल्प ग्रथवा कथ्य ग्रादि के सम्बन्ध में ज़बान नहीं खोलूंगा। हां, मैं मानता हूं कि कविता पहेली, निरा शब्दाडम्बर, ग्रर्थहीन पैटर्न, ग्रतिशय बौद्धिकता का द्राविड़ प्राणायाम ग्रथवा लयहीन शुष्क गद्य नहीं।

समाज से जुड़ा लेखन मेरी दृष्टि में सार्थक है।

गीत

गीत विहगों के मुझे दो
प्रात के,
मैंने कहा।
धातु-कण्ठी शोर
तुमने
कान पर मेरे धरा।
जब कि मैंने
कूल 'डल' का
छांह चिनारी मांग ली
तेज़ तेज़ाबी लुएं
तुमने
मेरे कर थाम दीं।
चाह की मैंने—
हरिततम
घाटियों के रूप की
दूर तक
फैलाइ तुमने
मेरे लिए
मरु-भूमि ही!
प्यास मेरी तरसती है
'ग्रहरवल' के—
वारि को।
बस करो,
ये धूप-झुलसे
ग्रौर—
रीते घट न दो।
छटपटाती सांस
बदबू ग्रा रही—
हर ग्रोर से
ग्रब तो लौटा दो
निशाती-गन्ध
खुदा के वास्ते।

रमेश मेहता

रचनात्मक क्षणों में मेरा कलाकार, शब्द के सही अर्थ में, कवि होता है। कभी, किसी क्षण अचानक मानस में कुछ बिम्ब उभरने लगते हैं जो कविता की भाषा में यदि उसी समय कागज़ पर उतार लिए जाएं तो कविता बन जाते हैं अथवा पुन: अचेतन मन की गहराइयों में डूब जाते हैं। इस क्षण को जब जब व्यर्थ खोया है मन एक गहरी उदासी से भर गया है। चाह कर कविता लिखने का उद्योग कभी नहीं कर पाया हूं अत: मानने लगा हूं कि मैं वस्तुत: एक साधारण प्राणी हूं जो कभी कभी कवियों की श्रेणी में घुसपैठ करने को व्यग्र हो उठता है।

अपनी कविताओं पर, कुछ ठहर कर, जब भी विचार किया है तो जाना है कि इन में उभरे बिम्ब, चित्रित समस्याएं, उद्घाटित विसंगतियां कभी न कभी मेरे मानस के साथ सीधा साक्षात्कार करती रही हैं। मैं समझता था कि उन घटनाओं को मैं भूल गया हूं, किन्तु भुलाए से भी कभी किसी चीज को क्या भूला जा सकता है? मेरा निवेदन है, नहीं। अत: मन की अबूझ गहराइयों में घटनाओं एवं स्थितियों का जो अन्तर्मन्थन चलता रहता है उन्हीं का परिणाम होती हैं मेरी कविताएं—गो उनके नवनीत होने का दावा मैं नहीं कर रहा हूं, करना भी नहीं चाहता।

अन्त में यह कहना आवश्यक समझता हूं कि मेरी कविता का मूल स्वर क्या है, मेरी कविता किन के लिए है तथा वह जैसी है वैसी ही क्यों है जैसे प्रश्नों का कोई उत्तर मेरे पास नहीं है। मेरी मान्यता है कि मेरी कविताएं अपने कथ्य को सम्प्रेषित करने में समर्थ हैं। अत: इस सन्दर्भ में कुछ कहना वैसे भी मुझे अनुपयोगी लगता है। आत्म-कथ्य सामयिक होता है तो कविता शाश्वत। अत: सामयिक सन्दर्भों से निकल कर शाश्वत की खोज में भटकता रह सकूं यही मेरी कामना है और शायद लक्ष्य भी।

चुगलखोर हवाओं का गीत

चुगलखोर हवाओं ने
हर बार चुपके से कहा है
कि तुम्हें
इस घर की देहलीज के पार आना
एक व्यर्थ का प्रयत्न लगता है
ऐसे में
द्वार खुला मिले या बंद
तुम्हीं कहो
इससे क्या फर्क पड़ता है ?

चांद ने मौन की भाषा में
हर रात कहा है
कि प्यार तुम्हारे लिए
अब केवल एक नाम है
अनुभूति नहीं
प्रकाश की हर किरण ने
हौले से
तुम्हारे मुख पर घिर आई अलकों को
सहेजने की चेष्टा में मग्न
जाना है
कि तुम्हें यह गीत भी स्वीकार नहीं।

इन सारे सन्दर्भों में
मुझे कहीं कुछ कहना था
यह बात
अब इतिहास हो गई है

आकांक्षाओं के शब्दकोश को
मैंने
पुरवैया से यह कहते सुना था
कि तुम फिर कभी

मेरे आंगन में बिखरे अमलतासों को
मत सहलाना
और यह भी
कि
परत-दर-परत बिछे
नुकीले पत्तों के बिस्तर
कहीं और मत सजाना।

कु० उषा व्यास

बहुत पहले बचपन में बादलों की उजली परछाइयां देख कर लगता था कि शायद वे पानी में डूबे होने के कारण ही गीले हैं, पर जब स्कूल जाना हुआ और भूगोल की मास्टरनी शकीला बानो ने पहला तमाचा मारा तो समझ में आया कि बादल के क्या माने हैं ? वे क्यों भीगते हैं भारी होते हैं ?

पता नहीं क्यों मुंडेर पर खड़े-खड़े चुपचाप बादल देखते रहना मुझे बेहद अच्छा लगता है। कजरारे धुंआरे, गेरुई, रतनारे, तीतर-पंखी, तारों के बीच छिटके हुये खीलिया बादल। विशेषकर तब तो और भी जब वे जागती सी भोर या सांझल आकाश पर कई-कई आकार ले रहे होते हैं।

कभी नर्म रूई के गाले से बादलों को हथेलियों में दबा लेने और स्लेटी दर्द के बूंद-बूंद झरने का सौन्दर्य देखने को भी मन किया और कभी इन्हीं बादलों से झरती रोशनी के रजत प्रवाह को अंजुरी में भर कर पीने की कोशिश में मैं ने देखा कि किरणों ने तीखी सुइयों की तरह हथेलियों और पोरों में उतर कर सुराख ही सुराख कर दिये हैं और उन सुर्ख. गहरे सुराखों के बीच अपरिचित अंधेरे के अनगिनत रेतीले कण किरकिरा उठे हैं।

बादलों जैसी ही बोझिल और पनीली संवेदनाओं के बीच यातनाओं की अनन्त पीड़ायात्रा में टुकड़े-टुकड़े सुख की अनछुई छांहें तलाशते, दिशाहीन पात्रों के साथ जुड़ाव का तल्ख अहसास जीते हुए लगता है जैसे पलकों और उंगलियों में 'कुछ' भर आया है शायद यही लेखन है।

बदलते संदर्भ और विसंगतियों की भीड़ में स्वस्थ जीवन-दृष्टि खोजने के प्रयास में आईने के सामने रह कर लिखने की मान्यता।

बेनाम यात्रा

कोहरे के फ़ेन सी
मधुर स्वप्न चुप्पी
रीती ग्रांखों के समन्दर में चुपचाप
खेती रही आकांक्षा की
पतवार
हम सोचते रहे—वस्स सोचते रहे
कि कव होगा
गंधडूवी चंदनी हवाग्रों का रुख इधर
कब सिमटेगा
नाव की ठहरी पाल में
कनेरी चांदनी का धुला विस्तार

ऐसा कुछ नहीं—कब्भी नहीं हुग्रा
जेठिया दुपहरी की नोकदार किरणों के
वरसते रहे चाबुक
ग्रौर बे-तरतीव उघड़े लम्बे निशान
अपनी सत्ता समझते रहे
छांहों की नरम उंगलियों के पोर
नरमाहट से ग्रनछुये रह गये
वक्त के रेले में
कितने ग्राज ग्राये ग्रौर कितने कल वट गये
अंधेरे की ग्रन्धी आंख में
बेबसी से रोज
उगते ग्रौर डूब जाते सूरज
तुम मेरे साथ हो—मैं तुम्हारे साथ
तुम्हारा अंत और है—मेरा अंत ग्रौर
फिर—
किन संवेदनाओं से
बंधे जुड़े हैं हम

किस कन्धे की
करते-फिरते हैं तलाश
नहीं बोल पाये हम
तो तुम्हीं होंठ खोलो
कि—
ज़िन्दगी के कन्धे पर बैठी हुई
यह कौन सी सहयात्रा है।
अकेली-लहूलुहान
अंतहीन बेनाम
पीड़ायात्रा।

निर्मल 'विनोद'

कोरी लफ़्फ़ाज़ी और थोथी नारेबाजी के प्रति घृणा का भाव रखने वाले तथा साफ़गोई और सपाटबयानी के कायल मेरे भावुक गीतकार ने यथार्थ के तीव्र थपेड़े सहे हैं ; काफ़ी कुछ देखा और समझा है। जीवन पराजित मन से तो जिया नहीं जा सकता और फिर मैं एक अच्छा (आत्म-प्रशंसा नहीं) खिलाड़ी भी रहा हूं। याने मेरे लिये जीत या हार कोई 'विशेष' महत्त्वपूर्ण नहीं। संतोष तो खेल को ईमानदारी से खेलने का होना चाहिए और है भी। जीवन के प्रति आस्था का भाव ही मेरी चेतना का केन्द्र बिन्दु है।

साहित्यिक संस्कार शायद कविता एवं हिन्दी प्रेमी पिता जी की देन हैं। जम्मू के साहित्यिक मंच पर अवतरण 1968 से। पहले हिन्दी साहित्य मण्डल' में सक्रिय रहा, तत्पश्चात्, 'युवा हिन्दी लेखक संघ' की स्थापना सर्वश्री रमेश मेहता, जवाहर रैणा, ज्योतीश्वर पथिक, डा० ओम प्रकाश गुप्त तथा पं० दुर्गादत्त शास्त्री के साथ

1974 में घोषवती' (त्रै०) का सम्पादक रहा। इसी वर्ष सर्वश्री जवाहर रैणा तथा विजय शर्मा के साथ 'प्रिज्मों में बटीकिरणें' (कहानी-संग्रह) का संपादन भी किया। जम्मू प्रदेश की संस्कृति से सम्बन्धित एक अन्य संपादित निबन्ध संग्रह 'तवी के आर-पार' प्रकाशनाधीन है।

अभी तक कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं थी 'किन्तु बयार के पंखों में' (कविता-संग्रह) और पत्थरों का दरिया (गीत-गजल-संग्रह) शीघ्र ही आपके हाथों में होंगे।

गीत

कुछ बबूल सी
कुछ पलाश सी
मिली-जुली, अनकही कथा मेरी है
मौन व्यथा मेरी है।

मैंने दृग-जल पिया ग्रौर कुछ किया नहीं
जीना सीखा नहीं कभी भी जिया नहीं
धुंधुग्राती. जी रही लाश-सी
मिली-जुली ग्रनकही कथा मेरी है
मौन व्यथा मेरी है।

कैसा संभ्रम-भरा हुआ जीवन मेरा
विजन-देश में पथ-भूला क्रन्दन मेरा
ग्रध टूटे-से प्रेम पाश-सी
मिली जुली अनकही कथा मेरी है
मौन व्यथा मेरी है।

सपनों को साकार नहीं मैं कर पाया
ग्राई जब भी याद आह ही भर पाया
कर से घायल बुत-तराश-सी
मिली-जुली ग्रनकही कथा मेरी है
मौन व्यथा मेरी है।

डा० आदर्श

हम जिस परिवेश में रह रहे हैं उसके प्रति मन जाने-अनजाने और चाहे-अनचाहे ढंग से 'रिएक्ट' करता रहता है। कई बार व्यक्ति का परिवेश उसे गहराई तक छू जाता है, उसे हृदय और मस्तिष्क के तल पर उद्वेलित कर देता है। इस प्रतिक्रिया अथवा उद्वेलन को व्यक्त करने के विभिन्न माध्यम हो सकते हैं। मेरे लिए यह माध्यम कविता है।

मुख्य रूप से रचना प्रक्रिया के चार चरण माने जा सकते हैं - अनुभूति संजोने की प्रक्रिया, रचना के अनुकूल वातावरण और अभिव्यक्ति। यह ज़रूरी नहीं है कि कवि किसी वस्तु या घटना से प्रभावित होकर तत्काल सृजन में प्रवृत्त हो जाए, अपितु अनुभूति के पश्चात् उसे संजोने में तथा अभिव्यक्ति के उपयुक्त वातावरण मिलने में समय लग सकता है। अनुभूति संस्कार रूप में हमारे मानस में रहती है और पुनः जब कोई वैसी ही मिलती जुलती अनुभूति हमें होती है तो पुराने संस्कार उभर आते हैं और वह अनुभूति अभिव्यक्ति बन जाती है।

अपने विषय में मैं यह भी कह सकता हूं कि मैं अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों के विषय में अस्पष्ट होता हूं। कोई पूर्वनिर्धारित खाका मेरे मस्तिष्क में नहीं होता। केवल एक विकलता—जिसका कारण अस्पष्ट है—से मुक्ति पाने के लिए मैं स्वयं को अभिव्यक्त करता हूं। अनुभूति और अभिव्यक्ति पर परिवेश की छाप स्वाभाविक होती है। अतः पीड़ा, निराशा, घुटन, संत्रास आदि स्वाभाविक रूप से मेरी रचनाओं में मिलते हैं. जिनके द्वारा मैं चाहता हूं मेरे पाठक इनके प्रति ऐसा तो होता ही है, यह सोचकर ही न रह जाएं, अपितु अपनी संवेदना को जीवित रखते हुए कोई समाधान भी खोज सकें।

भ्रान्तियों के कैक्टस

तुमने
मुझसे जो मांगा है
स्पष्टीकरण
यह सिद्ध करता है
मेरे प्रति तुम्हारी दृष्टि
धुंधली है।

सुनो -
हर आंख की धुंधलाहट दूर करना
काम मेरा नहीं है
मैं जहां हूं
वहां कहीं भीं
अंधेरा नहीं है
शायद तुम नहीं जानते
सन्देह का फैशनेबल चश्मा
दृष्टि की शक्ति
बढ़ाता नहीं, कम करता है
दूसरों को सही पहचानने का
झूठा दम भरता है।

मेरी सलाह मानो -
अपने व्यक्तित्व के चारों ओर
भ्रान्त धारणाओं के कैक्टस मत उगाओ
अपनी सुरक्षा के लिये
अपने हाथों
अपना बन्दीगृह मत बनाओ
अन्यथा
मैं जानता हूं

इन कांटों भरी शाखाओं को पकड़कर
एक दिन
जब तुम डबडबाई आंखों से
अपना खोया हुआ
आत्मविश्वास ढूंढोगे
तब तुम्हारी धुंधली दृष्टि
घायल हाथों से टपकते रक्त को भी
नहीं देख पायेगी
तुम्हारी दर्द भरी चीख
तुम्हारे, भ्रान्त धारणाओं के,
कैक्टसी जंगल में
अकेली गूंजकर रह जाएगी।

जितेन्द्र उधमपुरी

कविता हो या कहानी, नयी हो या पुरानी, मेरे विचार में उसे स्वस्थ होना चाहिए। वह जीवित हो, उसमें प्राण हों, साफगोई और भ्रमरहित बेबाक सपाटबयानी के साथ-साथ देर तक टिक पाने की सामर्थ्य हो। कहीं वे कोरा भटका हुआ शब्द जाल ही न बन कर रह जाये। उसके साथ सार्थकता जुड़ी रहे। मैंने छंदोबद्ध एवं मुक्तछंद दोनों में ही रचनायें की हैं। मेरे लिए साहित्य मूलतः मानवीय भावों की सूक्ष्म तथा मार्मिक अभिव्यंजना है।

आज पूर्व निश्चित विचार-मान्यताओं के आगे प्रश्न चिन्ह आ खड़े हुए हैं। विभाजन और स्वतन्त्रता के बाद सामान्यजन कहां-कहां भटका है? उसने क्या खोया, क्या पाया है? कहीं बीच की जीवित लाचारी, छटपटाहट और हर मोड़ पर परिस्थितियों से समझौता।

मैंने आज तक जो देखा, भोगा, पाया और अन्दर ही अन्दर बहती जिस पीड़ा को घूंट-घूंट पिया है उसी को शब्द देने का यत्न किया है। हमेशा चाहा है कि कुछ नया लिखूं, कुछ नया दूं। जीवन से जुड़े संदर्भों की तस्वीर खींचूं। मेरी रचनायें घर, गांव या देश के चौखटे में ही कहीं बन्द न हो जायें। वे नये पंख लगा कर दूर-दूर पहुंचें।

मेरे लिए खाने-पीने, ओढ़ने के साथ-साथ कुछ न कुछ लिखते रहना भी अनिवार्य है जब कभी बिना कुछ लिखे कुछ दिन बीत जाते हैं तो लगने लगता है कि कहीं बीचों-बीच अपने-आप कुछ मरने लगा है। मुझे अपनी रचनाओं से कभी संतोष नहीं हुआ। सुबह लिखी रचना अक्सर सांझ को पुरानी लगी है।

मोम का घर

अभावग्रस्त
यातना भरे
इस शहर में
हर गली
जाकर रुकती है
एक नये दर्द के मोड़ पर.
हर बाज़ार
अपने माथे पर चिपका कर
मंहगाई का एक नया इश्तहार
एक नई घटन का
अहसास सौंप जाता है.
और
दे जाता है
संघर्ष भटकाव के
कभी खतम न होने वाले
दूर तक फैले
सिलसिले ।
ऐसे में
रात-दिन
चुभन और उत्पीड़न की
धीमी-धीमी आग से
रहता सुलगता-झुलसता
आशाओं, आकांक्षाओं
और सपनों का
सुन्दर, रंगदार
मेरा मोम का घर ।

कथा कहते कहते...

वेद राही

एक ही ज़िन्दगी में कई जन्म लेने पड़ते हैं—यह मेरा विश्वास है। विश्वासों के कई ध्रुव हर समय मेरी आंखों के सामने रहते हैं। ऐसा ही एक ध्रुव है – ज़िन्दगी जीने के लिए है। साहित्य से मेरी दोस्ती बचपन से थी। लगभग इक्कीस वर्षों से पूरी तन्मयता और गम्भीरता से साहित्य के मार्ग पर चल रहा हूं। इन वर्षों में मैंने प्यार, ममता, हर्ष-विषाद के जो अनुभव प्राप्त किए हैं, वे ज़िन्दगी के पदचिन्ह हैं, और उन्हीं की तस्वीरें मेरी कहानियों में हैं - मेरी अपनी दृष्टि के साथ।

अपने बचपन में मुझे लगता था कि मैं एक भूल भुलैयां में फंसा हुआ हूं। अपने आस-पास का सब कुछ अवास्तविक लगता था। लेकिन अब हर रात जब मैं सोता हूं तो इस यकीन के साथ कि यह रात सबके लिए है. कि सब सोयेंगे—और सुबह समयानुसार सूरज निकलेगा, रोशनी होगी। अब केवल मेरी नज़र को छलने के लिए मकान, गलियां और नगर नहीं बनते ये सब वास्तविक हैं यह सब सच है और अपनी कहानियों द्वारा मैं इसी सच का इतिहास लिखता हूं।

कहानियों के लिए पात्र मुझे खोजने नहीं पड़ते, न ही मुझे परिस्थितियों की तलाश रहती है। अपने आपको दार्शनिक के रूप में पेश करने के लिए मुझे विचारों को उधार लेने की आवश्यकता भी नहीं होती। वस्तुतः अपने तौर पर कहानी लिखकर मैं अपने आपको दूसरों के समीप पाता हूं। कहानीकार और कहानी के पात्रों में एक गहरा रिश्ता होता है। समय और स्थिति के धागों में वे बंधे होते हैं। एक सम्बन्ध धरती का भी होता है। धरती की गंध भी हमें एक सूत्र में बांधती है। धरती या पात्रों से पहचान होने में देर नहीं लगती, यदि लेखक पूर्वग्रह छोड़कर ईमानदारी को लेखन की पहली शर्त मान ले।

मैं क्यों लिखता हूं ?—क्या मेरी कहानियों में कुछ ऐसा विशिष्ट है कि मैं अपने लिखने के क्रम को बनाए रखूं ? ऐसे प्रश्न मैं प्रायः अपने आपसे पूछा करता हूं। लेकिन लिखने की इस आकांक्षा के सामने आकर ऐसे प्रश्न मूक हो जाते हैं। मैं स्वयं चुप हो जाता हूं। लगता है लिखना ही मेरी नियति है।

दरार



सब भाग रहे हैं । किसी के सिर पर कोई गठरी है, किसी के हाथ में कोई टूटा-फूटा बक्सा ।

"भागो, दौड़ो ।"

"हाय ! यह क्या हो गया ?"

"हे भगवान् !"

बच्चे साथ-साथ घिसटते चले जा रहे हैं। छम्ब की ग्रोर से ग्राती हुई गोलों की ग्रावाज़ें दिलों को दहलाए दे रही हैं ।

ध्यान सिंह दहलीज पर खड़ा भागते लोगों को देखे जा रहा है। इस भगदड़ में उसे कुछ भी सुझाई नहीं दे रहा। उसे लगता है, सारी दुनियां घूम रही है ग्रौर वह एक ही जगह स्थिर खड़ा है।

कोठे के भीतर से लज्या की कराहट सुनाई दे रही है। दर्द की तीव्रता से ग्रकड़ा ग्रौर पीला पड़ा हुग्रा उस का चेहरा ध्यान सिंह की ग्रांखों में घूमने लगता है । भीतर ही भीतर उसे कुछ काटता चला जाता है।

सामने मुरकू चाचू एक बक्सा सिर पर उठाये हड़बड़ाता हुग्रा गुजरा। पीछे-पीछे चाची भी है, एक गठरी उठाए हुए। उसकी सहमी हुई ग्रांखों में से ग्रांसू भी बह रहे हैं।

"ग्ररे ध्यानू ! क्या बात है ? चलो, चलो जल्दी करो," मुरकू चाचू ने सिर पर उठाए बक्स को सम्भालते हुए कहा ।

'बस ग्रा रहा हूं, तुम चलो" ध्यान सिंह ने उत्तर दिया ।

उसी समय साथ वाले घर से रामू शाह निकला—"ग्ररे ध्यानू ! खड़े क्या हो ? चलो भाई !"

"तुम चलो शाह, मैं ग्रा रहा हू ।"

शाह के सिर पर एक बड़ा सा गट्ठर है। उस की पत्नी ने भी एक बक्सा उठा रखा है। दो बच्चों ने एक एक गठरी उठा रखी है। बड़ा लड़का रस्सी पकड़े गाय को भी घसीटने का यत्न कर रहा है। वे लोग भी ग्रागे जाकर मोड़ पर गुम हो गए।

ध्यान सिंह सोच रहा है—इस समय किसी को भी अपनी स्थिति बताना व्यर्थ है।

रात तो सब ठीक था। सब उसी तरह सोए थे, जैसे हर रोज सोते हैं। बल्कि कल रात कुछ ज्यादा ही शान्ति थी। खाना खाने के थोड़ी देर बाद वह रोज की तरह बिस्तर पर आ लेटा था और लज्या भी।

"सुनो," ध्यान सिंह ने करवट बदल कर कहा।

"सो जाओ अब, मुझे नींद आ रही है," लज्या ने कसमसा कर उस की ओर पीठ कर ली।

"अरे बात तो सुनो," कहते हुए ध्यान सिंह ने उस के पेट पर हाथ रख दिया। लज्या की नस नस में एक तार खिचा—खिचता गया, फिर एकाएक झनझना उठा।

उसे सचमुच बहुत अच्छा लगता है लज्या के उभरे हुए पेट पर हाथ रख देना। घड़े के समान उभरा हुआ पेट लगता है, पशमीने का ढेर है.........हाथ जैसे फिसलता जा रहा है। और लज्या को लग रहा है, उसके अंग-प्रत्यंग से सोते फूट रहे हैं। वह उन सोतों में बही जा रही है।

'अरे !" एकाएक ध्यान सिंह ने अपना हाथ उठा लिया।

लज्या खिलखिला कर हंस पड़ी। मुंह पर हाथ रख कर उसने अपनी हंसी घर के बाहर जाने से रोकी।

"वह हिलने लगा था।"

"हां !" लज्या बोली – 'तुम्हारा हाथ लगने से वह जाग पड़ा है। अब सुला भी दो न, बहुत कुलबुला रहा है।"

'न बाबा, मुझे तो डर लगता है," कहते हुए उस ने करवट बदल ली।

लज्या की मद्धिम हंसी की गूंज देर तक उस कमरे में गूंजती रही। उस गूंज की लय में बहता हुआ ध्यान सिंह सो गया था।

कुछ घण्टों बाद वह फिर जागा था। उसे प्यास लगी थी। अंधेरे में उसने पीछे मुड़ कर देखा, लज्या का गोरा चेहरा जैसे चमक-सा रहा था। एक बार उसका जी चाहा, वह उसके चेहरे पर अपना मुंह रख दे। जाग पड़ेगी. सोच कर वह केवल देखता ही रहा। फिर वह उठा और घड़े में से पानी उड़ेल कर उसने पीया। पानी पी कर वह आंगन में आ खड़ा हुआ। बड़ी निस्तब्ध रात थी। उसने चारों तरफ घूम कर देखा हर चीज पर एक गहरा सन्नाटा छाया हुआ था।

पता नहीं कितनी देर हुई थी उसे दोबारा सोए हुए। वह हड़बड़ा कर उठा। लज्या उसे झंझोड़ रही थी।

"अरे! उठो! देखो तो सही, ये कैसी आवाज़ें हैं। मुझे लगता है तोपें गरज रही हैं।"

"ये तो बादल गरज रहे हैं," कहते हुए वह खड़ा हो गया। साथ ही उसे याद आया, थोड़ी देर पहले उठ कर वह बाहर गया था, तब आस्मान बिल्कुल साफ था, पर निस्तब्धता की चादरें फट चुकी थीं। सचमुच कहीं तोपों के दहाने खुल गए थे। पर कहां? वह छत पर दौड़ा। पश्चिम में छम्ब की ओर आग के गोले फटते हुए साफ दिखाई दे रहे थे। मीलों दूर से भी बारूद की आग का भयानक रूप दिखाई दे रहा था। दिल दहशत से दहलने लगा। दूसरे लोग भी अपने अपने कोठों के ऊपर चढ़े हुए थे।

"यह क्या हो गया, लम्बरदार?" ध्यान सिंह ने जोर से आवाज़ दी। लम्बरदार गुलाबसिंह का कोठा दो घर छोड़ कर ही था।

'लगता है, पाकिस्तान ने हमला कर दिया। तोपों की मार मार रहे हैं," गुलाबसिंह ने कहा।

"हां, गोलों का रुख उसी ओर से है," पंडित दीनदयाल भी बोल उठा, जिसका घर लम्बरदार के घर के सामने ही था।

"हमारी तोपें भी तो चल रही होंगी?' ध्यान सिंह यों बोला जैसे वह आश्वासन पाना चाहता हो कि खतरे की कोई बात नहीं है।

"ऐसा लगता तो नहीं है," लम्बरदार ने छम्ब की ओर देखते हुए कहा—"या हमारी ओर से इतने कम गोले चल रहे हैं कि दूर से नज़र नहीं आते।"

"चलो, सब जने दुकान के पास इकट्ठे हो जाएं," लम्बरदार ने जैसे आदेश-सा दिया।

ध्यान सिंह नीचे उतरा तो लज्या ने उसका हाथ थाम लिया, "सचमुच हल्ला हो गया है?"

"तुम घबराओ मत, जाकर सो जाओ,' कहते हुए ध्यान सिंह उसे भीतर ले आया और खाट पर लिटा कर एक रजाई दे दी। मुड़ते-मुड़ते उसको एक चिकोटी भी काट ली।

"यह क्या कर रहे हो?" लज्या कुछ खिन्न होने लगी थी।

"चुपचाप सो जाओ, कोई चिन्ता मत करो," कहता हुआ वह बाहर निकल गया।

गांव में यह ही दो दुकानें हैं। सभी मर्द वहां एकत्र हो गए। दूनी

शाह के हाथ में एक मद्धिम-सी लालटेन है । किसी का चेहरा स्पष्ट नहीं दिखाई दे रहा । फिर भी एक दूसरे के चेहरे पर उड़ती हुई हवाइयों का ग्राभास सब को है ।

कोई निर्णय नहीं हो सका कि क्या करें । दुकानों की छत पर चढ़ कर भी कई बार देखा गया । स्पष्ट दीखता था कि ग्राक्रमणकारी ग्रागे बढ़ रहे हैं । गोलों की मार पश्चिम से उत्तर की ग्रोर बढ़ती चली जा रही थी । धमाकों से दीवारें हिलने लगी थीं ।

सुबह होने को ग्रा गई । गांव का कोई मुर्गा भी नहीं बोला । स्त्रियां भी गलियों में दो-दो चार-चार इकट्ठी होने लगीं । बच्चे भी उन के पीछे-पीछे थे, बातें सुनने को उत्सुक । पौ फटने के बाद की रोशनी फैल गई थी ।

ग्रचानक दुकानों के पास खड़े मर्दों ने देखा गौड़से गांव की ग्रोर से लोगों का रेला बढ़ा चला ग्रा रहा है । एक भयानक शोर उनके साथ-साथ ग्रा रहा था—किसी बड़े बरसाती नाले में जैसे एकाएक बाढ़ ग्रा गई हो ।

टूटी हुई पतंग की तरह ध्यानसिंह का दिल नीचे ग्राने लगा । वह भी लम्बरदार के पीछे-पीछे ग्रागे बढ़ा । पुरुषों, स्त्रियों, बच्चों का वह रेला गांव के पास पहुंच गया था । खेतों के बीचों-बीच, मेड़ों पर लोग-ही-लोग । सब परेशान । यह क्या हो रहा है ?

"भागो ! भागो !!"

"पाकिस्तान ने हमला कर दिया ।"

"टैंक-ही टैंक ।"

"ग्राग ही ग्राग ।"

"दौड़ो ।"

"भागो ।"

भगदड़ मच गई । सब के हाथ पाँव फूल गए । एक ऐसा शोर, जो कभी नहीं सुना था किसी ने । किसी को यह भी मालूम नहीं पड़ रहा कि उसके मुंह से क्या निकल रहा है ।

"चलो ! चलो ! जल्दी करो ।"

"जो भी हाथ में ग्राता है, ले कर भागो ।"

"ग्रब कुछ भी मत सोचो ।"

"पहले ग्रौरतों ग्रौर बच्चों को निकालो ।"

"मर्द बाद में सामान ले कर चलें ।"

"भागो ! दौड़ो !"

सब अपने-अपने घरों की ओर भागे। ध्यानसिंह को भी, भागते हुए, कुछ नज़र नहीं आ रहा था, आगे क्या है।

भिड़े हुए दरवाजे को भड़ाक से खोलता हुआ वह आंगन में कूदा—

'चलो चलो, जल्दी करो।'

"मैं नहीं जा सकती," वह बोली।

ध्यान सिंह उसकी ओर देख कर स्तब्ध रह गया।

"क्या हो गया है तुम्हें ?"

"पेट में दर्द होने लगा है। मैं अब नहीं जा सकूंगी," लज्या ने कहा और खाट पर लेट गई। पेट को थामती हुई कराहने सी लगी।

"वही दर्द तो नहीं ?"

"हां !"

"मैं अभी छज्जू की मां को बुला कर लाता हू ." कह कर वह तेज़ी से बाहर निकला। शंका थी, कहीं छज्जू की मां गांव छोड़ कर जा न चुकी हो। वही तो एक औरत है जो यह काम कर सकती है। गलियों में गौड़से गांव की तरफ से आते हुए लोग भागे चले जा रहे थे।

ध्यान सिंह जब छज्जू के घर के बाहर पहुंचा, तब वह और उसकी मां एक-एक गठरी सिर पर रखे घर से बाहर निकल रहे थे। दूर से उन्हें देख कर वह ठिठक गया। कैसे कहेगा कि लज्या को...

"ओ ध्यानू ! यहां खड़े-खड़े क्या कर रहे हो ? छज्जू की मां ने उसी की ओर आते हुए कहा और यह कहने के साथ ही वह रुक गई। मन में शंका सी उठी ! अर्थमय दृष्टि से ध्यान सिंह की ओर देखा।

"मासी ! लज्या को——"वह इतना ही कह सका।

"मर गए," छज्जू की मां भयभीत हो गई,.' पीड़ा होने लगी ?"

"हां मासी !" ध्यान सिंह के लहजे में बेचारगी भरी थी।

"चलो चलो। उसे मेरे साथ ले कर चलो। गांव से तो किसी तरह निकलें। रास्ते में सब सम्भाल लूंगी मैं। चिन्ता मत करो -," कहती हुई छज्जू की मां आगे बढ़ चली। उसके दोनों हाथ सिर पर रखी हुई गठरी पर थे और नज़र आगे बढ़ती उस गली पर जो तंग और कीचड़ से भरी हुई थी। छज्जू और ध्यान सिंह दोनों उसके पीछे-पीछे चलने लगे। छज्जू की मां, न जाने क्यों, कीचड़ से बचने की बजाए

उसके बीच छप छपाक छप चल रही थी। एक बड़े धमाके की आवाज़ आई तो वह फुट भर ऊपर उछल पड़ी और बड़ी मुश्किल से गिरते-गिरते बची। ध्यान सिंह चलते-चलते रुक गया। उसे महसूस हुआ, दिल की धड़कन ही रुक गई है।

"जाओ ध्यानू, बहू को ले आओ, हम यहां तब तक ठहरते हैं।" छज्जू की मां ने कहा।

"अन्दर आ जाओ, मासी।"

"नहीं, नहीं। तुम उसे ले आओ। देर करने से कोई लाभ नहीं।"

घर के भीतर जाते हुए ध्यान सिंह ने गहरे अविश्वास के साथ उनकी ओर देखा।

वह लज्या के पास पहुंचा। लज्या खाट पर चित्त पड़ी थी। उसका चेहरा विकृत हो गया था। खाट की अदवान में फंसे उसके पांव संघर्ष कर रहे थे। दोनों भुजाएं फैलाकर वह जोर से मुट्ठियां भींच रही थी। दांतों के बीच ऊपर का होंठ उसने यूं दबा रखा था जैसे कट ही जायेगा। 'हाय हाय, हाय।' की आवाज़ मुंह से बाहर आते-आते एक तेज़ और लम्बी फूत्कार में बदल जाती। दरवाज़े के खड़ाक की आवाज़ सुन कर उसने उधर देखा।

ध्यान सिंह उसके चेहरे का रंग देख कर घबरा गया। धीरे-धीरे आगे बढ़ कर वह उसके सिरहाने बैठ गया। उसने लज्या के सिर पर हाथ रखा। वह अपने दोनों हाथों में उसका हाथ लेकर जोर से दबाने लगी।

"छज्जू की मां आई या नहीं? उसने टूटते शब्दों में पूछा।

"वह बाहर खड़ी है," ध्यानसिंह ने उसके माथे पर हाथ फेरते हुए हल्के स्वर में कहा।

"हाय उसे जल्दी से बुलाओ। जल्दी बुलाओ। उसे कहो, जल्दी आए मैं मर रही हूं। बचूंगी नहीं। हाय, हाय।"

'मैं तुम्हें उठा कर ले चलता हूं लज्या। छज्जू की मां कह रही है, गांव से निकल चलो।'

"अरे क्या हो गया है, तुम लोगों को? रास्ते में ही कुछ हो गया तो?" लज्या कराहते हुए बोली" मैं कहती हूं, उसे बुलाओ। मुझे कैसे उठा कर ले चलोगे? जाओ, उसे यहां ले आओ जाओ।" इस बार वह चीख पड़ी। लज्या और भी अधिक छटपटाने लगी थी।

ध्यान सिंह उठा, बाहर आया। देखा, न छज्जू वहां है, न छज्जू की मां। उसका दिल धक् से रह गया। क्षण भर के लिए उसकी आंखें मुंद गईं। उसे चारों ओर गिद्ध मंडराते नज़र आने लगे। घबरा कर उसने आंखें खोल दीं।

"आ गई ?" लज्या ने उसे देखते ही पूछा।

'नहीं, वह चली गई है," ध्यान सिंह पास बैठता हुआ बोला।

"ओह, मेरी मां !" वह चीखी, "अब क्या करूं ?"

ध्यान सिंह ने धीरे से उसका हाथ दबाने की कोशिश की।

"छोड़ दो मुझे, अकेली छोड़ दो। तुम भी चले जाओ। तुम भी चले जाओ। तुम भी चले जाओ यहां से।"

'नहीं लज्या, अब भी समय है। इस गांव से हम निकल जाएं तो खतरा बहुत कम रह जाएगा। मैं तुम्हें उठा कर ले चलता हूं।"

'नहीं ! नही ! नहीं !!" वह फिर चीखी, "मैं नहीं जा सकती। चाहे कितना भी खतरा हो मैं रास्ते में बच्चा नहीं जन सकती, समझे ? चले जाओ, तुम्हारे हाथ जोड़ती हूं, तुम भी चले जाओ।"

"मैं तुम्हें अच्छी तरह उठा कर ले चलता हूं। दो-तीन घण्टों में चिनाब के किनारे पहुंच जाएंगे। वहां हम खतरे से बाहर होंगे। चलो आओ मैं तुम्हें ऐसे उठाता हूं——"

"छोड़ दो मुझे !' लज्या ने उसका हाथ झटक कर परे कर दिया। 'मैं कह चुकी हूं मैं खुले में बच्चा नहीं जन सकती। चले जाओ यहां से। मुझे जीना होगा तो बच जाऊंगी, मरना होगा तो......"

"कैसी बातें कर रही हो, लज्या ?" ध्यान सिंह फिर बैठ गया" मैं तुम्हें छोड़ कर कैसे जा सकता हूं ?"

उसी समय एक बहुत बड़ा धमाका हुआ। शायद कहीं गांव के पास ही कोई गोला आ कर फटा था। कोठे की कच्ची दीवारें हिल गईं। लज्या ने अनायास दोनों हाथों से ध्यान सिंह को थाम लिया। ध्यान सिंह ने भी उसकी दोनों बाहें जकड़ लीं।

हाय !" लज्या अचानक जोर से कराही, जैसे भीतर ही भीतर उसे किसी ने नुकीले शिकंजे में कस लिया हो।

ध्यान सिंह घबरा कर उठ खड़ा हुआ।

"बाहर चले जाओ। जाओ, जाओ !" वह इतने जोर से चीखी कि ध्यान सिंह मूढ़-सा दरवाजे की ओर चल दिया। लज्या और भी

जोर से मुट्ठियां भींचने लगी। खाट की ग्रदवान में फंसे हुए उसके पांव ग्रौर ग्रकड़ते जा रहे थे। उसकी ग्रांखों से ग्रांसू रिसने लगे थे।

वह बाहर ग्राया। गली में बांकू चमार ग्रपनी पत्नी के साथ भागा जा रहा था। दोनों के सिर पर भारी गठरियां थीं। पत्नी ने घूंघट भी निकाला हुग्रा था।

"ग्ररे, ध्यानू ! जल्दी कर। चल ! ग्रब तो लगता है इस तरफ भी तोपों के मुंह खुल गए।"

'तुम चलो बांकू. मैं भी ग्रा ही रहा हूं।"

इस समय भला उसके लिए कौन रुकेगा ? वह जानता है। किसी से कुछ कहना ही व्यर्थ है। भीतर से लज्या की कराहट धीमी हो गई थी। वह फिर से भीतर जा उसके पास खड़ा हो गया। लज्या का तड़पना कुछ कम हो गया था। ग्रांखें बंद किए हुए वह कसे हुए सांस ले रही थी। लगता था, तकलीफ की ग्रवधि बढ़ गई है। वह कितनी ही देर वहां खड़ा उसे देखता रहा।

एकाएक उसे लगा कि गोलों की ग्रावाज़ें बहुत बढ़ गई हैं।

वह पीछे हटा फिर दरवाजा खोल कर बाहर ग्रा गया।

लोग वैसे ही भागे जा रहे थे। दूसरे गांव के लोग तो कब के निकल चुके थे। यहां के भी इक्का दुक्का लोग ही थे जो ग्रब भाग रहे थे। वह ठीक देहलीज पर ग्रा खड़ा हुग्रा। उसे कुछ सुझाई न दे रहा था। उसे लग रहा था कि दुनिया घूम रही है ग्रौर वह एक ही जगह स्थिर खड़ा है।

वह छत पर ग्रा चढ़ा। इस तरह निरन्तर तोपों की गड़गड़ाहट उसने कभी सुनी नहीं थी। उस तरफ ग्राकाश पर धुग्रां-ही धुग्रां उड़ रहा है – काला स्याह धुग्रां। लगता है गौड़से गांव तक तो ग्राक्रमणकारी बढ़ ही ग्राए हैं।

वह फिर नीचे उतर ग्राया। भिड़े हुए दरवाज़े से कान लगा कर उसने सुना, लज्या धीरे-धीरे कराह रही है। वहां से हट कर वह गली में ग्रा गया। ग्रब वहां कोई दिखाई नहीं दे रहा। सब भाग गए हैं। वह हैरान हुग्रा यह देखकर कि गली में कोई कुत्ता भी नहीं है। गांव वालों के साथ वे भी भाग गए हैं। उसे ख्याल ग्राया स्वयं वह कभी नहीं भाग सकता। चिड़ियों का एक बड़ा सा झुन्ड उसे ग्रखनूर की ग्रोर उड़ता नज़र ग्राया। वे भी तोपों के धमाकों से पनाह मांग रही थीं।

दो बिल्लियां—एक केसरिया रंग की और दूसरी काली-चिट्टी, उसे एक मकान में जाती दिखाई दीं। दरवाज़ा बन्द पा कर वे रोशनदान की मोहरी से भीतर कूद गईं। कमरे के अन्धेरे में उन्होंने अपने आप को सुरक्षित समझ लिया होगा,' ध्यान सिंह ने सोचा। उसे अचानक ख्याल आया शायद लज्या को भी इसीलिए परिस्थिति की भयानकता का अनुमान नहीं कि वह कमरे के भीतर बन्द है और......और अपने कष्ट में लाचार हुई बैठी है।

गलियों में घूमते हुए उसे भय ने जकड़ लिया। सुनसान आंगनों और बन्द दरवाजों में उसे काली-काली परछाइयां रेंगती नज़र आने लगीं हैं। उसकी गति में आप ही आप तेज़ी आने लगी है। नहीं मालूम, वह क्यों, कहां चला जा रहा है। उसके पांव कीचड़ में सन गए हैं। कीचड़ के छींटे उसके पाजामे और कुर्ते पर भी पड़ते जा रहे हैं।

यह दौलू का कोठा है। अभी पिछले ही बरस उसने सारे कोठे की लिपाई-पुताई की थी। फिर भी वह भाग गया है।

यह नानक सिंह का घर है। नानक सिंह की बेटी रानो ध्यान सिंह पर मरती थी। वह भी भाग गई है। उसने भी जाते हुए नहीं सोचा ध्यान सिंह कहां है।

अब वह दुर्गी ताई के कोठे के आगे से गुजर रहा है। दुर्गी ताई बुढ़ापे और लकवे से तंग आकर कहा करती थी "न जाने मुझे मौत कब आयेगी। मुझे तो अब यमराज का ही इन्तजार है।" वह भी भाग गई है, न जाने किस कन्धे पर सवार हो कर।

यह किरपू शाह का घर है। शाहनी ध्यान सिंह की मां की पक्की सहेली थी।......यह चम्पा डोमनी का कोठा। ...यह रूल्दू स्याने का थड़ा है।......सब वीरान...।

ध्यान सिंह तेज़ी से गुजरता जा रहा है।......अचानक वह रुक गया।

गली के सिरे पर आकर उसने एकाएक दूर खेतों के पास छह-सात बड़े-बड़े कुत्तों को भाग कर आते देखा। उसका दिल दहल गया। क्षण भर के लिए उसकी चेतना ही जैसे लुप्त हो गई। फिर अविलम्ब दौड़ कर वह रुल्दू स्याने के थड़े के पीछे छिप गया। उसकी सांस जोर से चलने लगी। कुत्तों के भौंकने की आवाज़ जैसे-जैसे पास आती जा रही है, दिल की धड़कन भी तेज हो रही है। थड़े के पीछे से उसने सिर उठा कर देखा कुत्ते काफी पास आ चुके हैं। वह और भी नीचे दुबक गया। कुत्ते जब गुजर गए और उनकी आवाज़ दूर से दूर तर होती

गई तब ध्यान सिंह उठ बैठा। उठते ही उसने बेतहाशा घर की ओर भागना शुरू कर दिया।

"चलो! चलो! चलो!" उसने वैसी ही तेजी से कमरे में घुसते हुए कहा। पीड़ा के कसाव में टूटी हुई लज्या उसकी सूरत देख कर कांप उठी।

"पाकिस्तानी आ गए?"

'बस आ ही गए समझो! उनकी तोपों के गोले पारले जंगल तक पड़ने लगे हैं। उधर से कुत्ते भी भागते चले आ रहे हैं। ईश्वर के लिए अब तुम भी चल पड़ो। चलो लज्या! तुम्हारे आगे हाथ जोड़ता हूं। चलो। मैं उठा लेता हूं तुम्हें," कहते हुए वह लज्या पर झुक गया।

लज्या को लगा, ध्यान सिंह रो रहा है। वह एकटक देखने लगी। जब ध्यान सिंह ने अपनी एक बांह उसकी गर्दन में और दूसरी घुटनों के नीचे डाली तो वह तब भी देखती ही रही। बोली कुछ नहीं।

अभी ध्यान सिंह ने जरा सा ही उठाया होगा कि लज्या के मुंह से चीख निकल गई। ध्यान सिंह ने घबरा कर उसे छोड़ दिया। वह फिर चित्त जा पड़ी।

"हाय! ओ मां मैं अब नहीं बच सकती। मर ही जाऊं तो अच्छा। तुम चले जाओ। मुझे अकेला छोड़ जाओ।" लज्या ने फिर यूं तड़पना शुरू कर दिया जैसे उसे भीतर कोई तोड़ रहा हो।

ध्यान सिंह फिर गली में आ गया। गोलों के धमाके अब बहुत ही नजदीक हैं। उसे लग रहा है, अब गांव के कोठों पर ही गोले गिर रहे हैं। पाँव के नीचे धरती में थरथराहट का अहसास होने लगा है। उसे धुआं भी उठता दिखाई देने लगा है, जैसे मकानों में आग लग गई हो। उसके कदमों में आप ही आप एक हरकत सी हुई। अचानक उसे कुत्तों के भौंकने की आवाजें फिर सुनाई देने लगीं। गोया हजारों जंगली कुत्ते गांव की ओर लपक रहे हों।

उसने भागना शुरू कर दिया।

वह उसी रास्ते से भाग रहा है, जहां से सुबह सारे गांव के लोग अखनूर की तरफ भागे थे। उसके पांव कहीं भी नहीं रुक रहे। कई जगह पांव के नीचे से कोई पत्थर फिसल गया और वह लुढ़का, पर फौरन सम्भला और फिर भागा। कई जगह उसका कुर्ता झाड़ियों में उलझा, पर उसने परवाह न की। वह दौड़ता ही चला गया। गोलों के धमाके उसे अपनी पीठ पर लगते महसूस हो रहे हैं और जगली कुत्तों के दांत

एड़ियों पर मानो गड़ने ही वाले हैं। वह फिर भी भाग रहा है। मीलों भाग कर जब वह बेदम हो गया तब एक तरफ गिर पड़ा। वह रो रहा था पर उसकी आंखों में आंसू नहीं थे।

चलते-चलते वह चिनाब के किनारे पहुंच गया। शाम हो गई है। फूटते गोलों के धमाके बराबर उसके पीछे लगे हुए हैं। कुत्तों की आवाज़ें बहुत पीछे रह गई हैं। पानी से जरा दूर एक बड़े पत्थर पर वह बैठ गया है। चिनाब की बड़ी-बड़ी लहरें, उसे लग रहा है, उसका सब कुछ बहा कर ले गई हैं।

रात हो गई है। वह पत्थर पर बुत की तरह निश्चल बैठा है। न कुछ देख रहा है, न सुन रहा है। न उसे कुछ याद आ रहा है। काफी रात गए वहां बैठे-बैठे वह आप ही आप एक ओर लुढ़कने लगा। उसने अपने आप को सम्भालने का यत्न नहीं किया। जैसे गिरा वैसे ही पड़ा रहा। अपलक आंखें आकाश की ओर खुली हैं, पर उसे कुछ नज़र नहीं आ रहा।

सुबह फैल गई। अपने अवयवों में उसे लहू दौड़ता महसूस होने लगा। उसे बहुत कुछ याद आने लगा। वह उठ कर बैठ गया। उसने चिनाब के बहते पानी की ओर देखा। गोलों की आवाज़ें भी उसके कानों में पड़ने लगीं। इस समय गांव में दुश्मनों का डेरा होगा, सोच कर उसके रोंगटे खड़े हो गए। लज्या का ख्याल आया और साथ ही उसके उभरे हुए पेट का। वह जरा-जरा देर बाद अपने बाल नोचने लगा।

अब वह अखनूर की तरफ देखने की बजाए पीछे अपने गांव की ओर देख रहा है। उस तरफ से दो पुलिस के सिपाही तेज कदमों से आते दिखाई दिए। उनके कन्धों पर बंदूकें हैं।

"आप कहां से आ रहे हैं?" ध्यान सिंह ने आगे बढ़ कर पूछा।

"गौड़से की तरफ से," एक सिपाही ने उत्तर दिया।

"तुम्हें यहां नहीं ठहरना चाहिए," दूसरा सिपाही बोला।

"हमारे साथ अखनूर की तरफ चले चलो।"

"मुझे अपनी बीवी का इन्तजार है। वह पीछे रह गई है।" ध्यान सिंह ने कहा।

दोनों सिपाही चौंके।

"हमें तो रास्ते में कोई औरत नहीं मिली," पहले वाला ही सिपाही बोला।

"इस तरफ कहां तक आए हैं पाकिस्तानी?" ध्यान सिंह ने पूछा।

"वे सीधे छम्ब की ओर बढ़ गए। इस तरफ नहीं आए।"

"पारले जंगल तक ?"

"नहीं, वहां तक भी नहीं। वैसे कुछ पत्ता नहीं——वे कब किस तरफ चढ़ आए।"

सिपाहियों के जाने के बाद ध्यान सिंह ने बिना किसी इरादे के गांव की ओर चलना शुरू कर दिया। पहले तो वह धीरे-धीरे चला, फिर आप ही आप उसके कदमों में तेज़ी आ गई। उसकी सांस तेज़ चलने लगी। शरीर पसीने में भीग गया। दम लेने के लिए भी वह कहीं रुकना नहीं चाहता। ज्यों ही दूर दरख्तों के पीछे गांव के कुछ घर दिखाई दिए, उसने भागना शुरू कर दिया। गांव के सूने पड़े मैदान के ठीक बीच से वह तीर की तरह गुजर गया। खाली पड़ी दुकानों की ओर भी उसने नहीं देखा। कीचड़ भरी गलियों में छपाक दौड़ता हुआ वह घर के दरवाजे पर पहुंचा और एकाएक रुक गया।

कोई आवाज़ नहीं आ रही अन्दर से। कमज़ोर और बोझिल पांव से धीरे-धीरे वह आंगन में पहुंचा। उसने दरवाजे से कान लगा कर सुना, कोई आवाज़, कोई खटका नहीं। शिराओं को मुर्दा कर देने वाला भय नीचे से ऊपर तक सरसरा गया। कांपते हाथों से उसने दरवाजे को जरा सा धकेला। दरवाजा बन्द था। एक हल्की सी उम्मीद हुई। दुविधा भी हुई। धीरे से दरवाजे पर ठक-ठक किया। भीतर कुछ खटका हुआ। ध्यान सिंह को असहनीय कुतूहल ने बेचैन कर दिया। दो मिनट बाद दरवाजा खुला। लज्या ने उसे देखा, उसने लज्या को। दोनों कुछ बोल नहीं पाए।

लज्या सीधे खाट पर जाकर बैठ गई। उसकी चाल से लगा वह निढाल है। हाथ बढा कर उसने एक कपड़ा सरकाया। बच्चे का मुंह नज़र आने लगा। ध्यान सिंह आकारण ही बच्चे को देख कर हैरान है।

लज्या ने कहा—"रात को हुआ मैंने खुद ही सब कुछ कर लिया।"

ध्यान सिंह वैसे ही निश्चल पड़ा एकटक बच्चे को देखे जा रहा है। लज्या ने उसकी ओर मुंह उठा कर फिर कहा "पास आओ न। इतनी दूर खड़े क्या देख रहे हो ?"

ध्यान सिह चौंका।

"अरे, जल्दी करो। उठाओ इसे। फौरन निकल पड़ना चाहिए," कह कर जैसे वह कोई सामान समेटने के लिए दूसरी ओर बढ़ गया। सामने ही पीतल के दो गिलास पड़े थे, वही उठा लिए उसने।

लज्या उसकी ओर देखती रह गई। फिर धीरे से उठी—"मैंने अलग से एक गठरी बना ली है। उस में सारी चीज़ें हैं। इन गिलासों को क्या करेंगे ले जाकर ? छोड़ दो।" कह कर लज्या ने बच्चे को उठा लिया।

गिलास छोड़ कर ध्यान सिंह ने गठरी उठा ली। कमरे में चारों तरफ उसने घूम कर देखा. पर खुद ही लगा कि उसके देखने का कोई उद्देश्य नहीं है, फिर उसने लज्या की ओर देखा। लज्या ने गले में एक कपड़ा बांध कर पीठ पर लटका लिया और सोए हुए बच्चे को उसमें डाल लिया।

ध्यानसिंह ने कहना चाहा—"लाओ, मैं बच्चे को भी उठा लेता हूं", लेकिन वह कह नहीं पाया।

दोनों बाहर निकले।

"तुम चल सकोगी न ?" ध्यानसिंह ने पूछा।

"चल ही लूंगी धीरे-धीरे," वह बोली। उसे चलने से दर्द हो रहा है। कराहट को होठों में ही दवा लेना चाहती है वह। पहली बार बाहर निकल कर गोलों के भयानक धमाके सुन रही है। उसे कुछ याद आया। बोली - "कल रात इसी गांव में एक गोला गिरा था।"

"इसी गांव में ?" ध्यान सिंह चलता-चलता रुक जाता है।

"हां।"

"कहां ?"

"यह नहीं मालूम, पर इतना बड़ा धमाका था कि जरूर इसी गांव में गिरा होगा। मैं तो पहले ही मरी जा रही थी। तब तक यह नहीं हुआ था। बस, होने ही वाला था। हो गया होता तो बच न पाता।" लज्या की आंखों में आंसू आ गए।

ध्यान सिंह कुछ कहना चाहता है। पर वह कह नहीं पा रहा। उसके पास कुछ है भी नहीं कहने को फिर न जाने उसके मुंह से आप

ही आप कैसे निकल गया—"कल शाम मेरे पीछे कुत्ते लग गए थे। बहुत दूर तक भागना पड़ा। वहीं शाम हो गई। फिर मैंने रात को भी वहीं ठहरे रहना ठीक समझा।"

उसने कनखियों से देखा। वह उसके साथ-साथ चल रही है।

दोनों के बीच एक हाथ की दूरी है, पर ध्यान सिंह को लग रहा है, वह लज्या से बहुत दूर हो गया है ......बहुत ही दूर।

हरिकृष्ण कौल

आप ही बताइए मैं उसे कैसे पसन्द कर सकता हूं ? वह बहुत ही बदसूरत है। सौ साल पुराने मिट्टी के उन बेडौल मकानों की तरह जिनमें आज भी निम्न मध्य वर्ग के कश्मीरी रहते हैं। जिन मकानों में रहने वाले फर्श पर ही चटाई बिछा कर बैठते हैं, सोते, राजनीति, धर्म और दर्शन के विषय में लम्बी चौड़ी बातें करते हैं। क्रूर तो वह है ही। परन्तु क्रूर होने के साथ वह जड़ भी है। उन करोड़ों अधनंगे, लोगों की तरह जो कड़कती सर्दी और प्रखर धूप में मीलों पैदल चल कर किसी नेता, महात्मा या महाराजा का भाषण सुनने आते हैं। भाषण का एक भी शब्द न समझने के बावजूद जो बार बार तालियां बजाते हैं; गला फाड़ फाड़ कर जय जयकार चिल्लाते हैं और हर बार छले जाने पर भी जिन की आस्था नहीं टूटती।

और हां, वह पंगु भी है। वैसा ही पंगु जैसा काफी हाउस में बैठे बुद्धिजीवियों का क्रोध होता है। इसीलिए वह एक बहुत बड़े झूठ में जी रहा है। कभी-कभी उसकी दुष्टता बहुत बढ़ जाती है। एक हिंसक क्रूरता से वह मुझे दबोचता है। कितना दारुण होता है वह क्षण। लेकिन दूसरे ही क्षण मैं कुछ और ही अनुभव करने लगता हूं। अरे, यह क्या ? उसने तो मुझ में अपना बीजारोपण किया है। यह बीज धीरे धीरे मेरे भीतर बढ़ने लगता है और कुछ समय बाद वह शुभ घड़ी आ ही जाती है। मेरी सन्तान - एक कहानी - जन्म लेती है। मुझे निराले संतोष और उपलब्धि का एहसास होता है।

मैं जानता हूं कि मेरी कहानियां मुझ पर ढाए गए जुल्मों का बदला मेरे परिवेश से नहीं ले सकतीं। वे उसे बदल नहीं सकतीं, सुधार नहीं सकतीं। मैं उनसे यह अपेक्षा भी नहीं करता हूं। जिस परिवेश को इतने क्रान्तिकारी विचारक और नेता नहीं बदल सके, उसे भला मेरी कहानियां कैसे बदल सकती हैं ? इसके बावजूद मुझे अपनी स्वजात कहानियां पसंद हैं। उन्होंने मेरे निरर्थक जीवन को थोड़ी बहुत सार्थकता प्रदान की—यही क्या कम है ?

गन्दी बहार

वह एक बजे के करीब सैंटर से लौटा। सड़क ग्रौर ग्रांगन के बीच एक नाला बह रहा था। उसने देखा वहां भाभी बर्तन सजा रही है। उसके हाथ कुहनियों तक मैल से भरे थे। बर्तन मांजने से पहले उसने शायद चौके को लीपा भी था, क्योंकि राख ग्रौर कालिख के नीचे उसके हाथों ग्रौर कलाइयों पर चिकनी मिट्टी का बेस कोट साफ दिखाई देता था। मुंह पर भी लिपाई की छींटें थीं। स्पष्ट था कि सुबह से लेकर इस समय तक उसे काम से एक पल के लिए भी छुटकारा नहीं मिला है। भाभी उसे देखकर झेंप गई। हाय, ग्राप मुझे इस रूप में देखकर न जाने क्या सोचेंगे ? वह मुस्कराया। ग्रर्थात्, इसमें शर्माने की कौन सी बात है ? एक गृहिणी को तो यह सब करना ही पड़ता है।

ग्रांगन में पहुंच कर उसने हैदर से पोर्टफोलियो लेकर उसे विदा किया। ताकीद की कि खाना खा कर वह पैंतालीस मिनट के भीतर लौटे। हैदर के खाने ग्रौर रहने की व्यवस्था ग्रसिस्टेंट सुपरिटेंडेंट गुलाम हसन के यहां हो गई थी। चलो यह परेशानी भी दूर हो गई— उसने सोचा।

ग्रपने कमरे में जाने से पहले वह ग्रोमकार भाई के कमरे में गया। ग्रोमकार के ग्रतिरिक्त वहां मोटी लोइयां ग्रोढ़े दो व्यक्ति ग्रौर थे। इस गांव के ही किसान होंगे ग्रौर ग्रपने किसी काम के सिलसिले से ग्रोमकार भाई से मिलने ग्राये होंगे, उसने सोचा। सामने दो रजिस्टर खुले पड़े थे। ग्रोमकार एक रजिस्टर में फारसी लिपि में इंदराज कर रहा था। तीनों में बातें हो रही थीं। पर उसे देखकर वे चुप हो गए। उसे लगा कि बातें किसी कादिर डार की बहू के विषय में हो रही हैं जो किसी ग्रजीज लोन के बेटे के साथ फंसी थी।

"बड़ी देर लगा दी भाई। मुझे तो सख्त भूख लगी है।" उसे देखकर ग्रोमकार ने कहा, "चलो कपड़े बदलो। मैं भी ग्रभी ग्राया।"

"तुमने खाया क्यों नहीं ? मेरी प्रतीक्षा करने की क्या जरूरत थी ?" उसने कहा ग्रौर ग्रपने कमरे में जाने लगा। सोचा, यदि उसकी प्रतीक्षा किए बिना ग्रोमकार भाई ने खाना खाया होता तो क्या उसे बुरा नहीं लगता ? जरूर लगता।

अपने कमरे में आकर उसने ओवरकोट और पतलून उतारे। पाजामा, कम्बल ओढ़ा और फर्श पर बिछे नमदे पर बैठ गया। तभी छः सात वर्ष की एक लड़की कांगड़ी लेकर आई। शायद भाभी ने भेजी थी। भाभी उसका बहुत ख्याल रखती है...कम्बल के भीतर टांगों के बीच गरम कांगड़ी रखकर वह सोचने लगा। इस कांगड़ी का भी अपना एक नशा होता है। आदमी चाहता है कि सारे काम छोड़ कर केवल बैठा रहे और आग तापता रहे। यह लड़की शायद 'डेरे' वालों की थी। उसका ख्याल था कि ओमकार भाई की अपनी बच्ची भी इतनी ही बड़ी होगी। मगर वह तो मुश्किल से तीन चार साल की थी। या हो सकता है वह दूसरी बच्ची हो। वास्तव में फूफी के मरने के बाद इन लोगों के साथ पहले जैसा रिश्ता नहीं रहा था। ओमकार भाई को यह भी मालूम नहीं था कि उसका ट्रांसफर' जम्मू से श्रीनगर हो गया है। भाभी ने कल बताया था कि उसका कार्ड मिलने पर ओमकार भाई को आश्चर्य हुआ था। थोड़ी देर के बाद भाभी ने आकर उसके आगे एक चादर बिछाई और उस पर एक पानी भरा लोटा रखा। भाभी ने मुंह हाथ धो लिए थे लेकिन वह अब भी वही मैली साड़ी पहने हुए थी। इस औरत का जीवन भी क्या है। वह सोचने लगा। यह दिन भर घर के काम में लगी रहती है। और काम भी क्या ?— झाड़-बुहार, लिपाई-पुताई। क्या कभी उसका मन इस सब के प्रति विद्रोह नहीं करता होगा ? विद्रोह ! उसे अपने विचार पर स्वयं हंसी आई। भाभी यह सब करते हुए कभी ऊब भी नहीं जाती होगी। हां, देखो तो सही कितनी मोटी हो गई है। विवाह के समय देखा था तब काफी छरहरी लगी थी।

ओमकार के आने पर भाभी दरवाजे के पास से तश्तरी उठा लाई और उसने दोनों के हाथ धुलाए। फिर नीचे से दो थालियों में खाना परोस कर ले आई। उस ने चख कर देखा कि रोग़न-जोश बहुत अच्छा बना था। तबीयत खुश हो गई किन्तु कहना पड़ा, "ओमकार भाई, भला इस तकल्लुफ की क्या जरूरत थी ?"

ओमकार भाई ने कहा, "तकल्लुफ तो तुम करते हो मेरे प्रोफेसर। यहां तो यह सब रोज़ का 'रुटीन' है।"

भला यह सब रोज का रुटीन कैसे हो सकता है ? हां, ओमकार उसे शायद यह जताना चाहता है कि अगर वह लेक्चरार है तो यहां

भी दो वक्त की रोटी बड़े मज़े से चलती है। ओमकार भाई के मन का भाव ताड़ कर उसने कहा, "हां भाई, क्यों न हो ? तुम लोगों के लिए तो रोज़ पहली तारीख होती है।"

'रोज़ पहली तारीख तो नहीं होती पर महीने में सौ डेढ़ सौ रुपए बना ही लेता हूं। तुम से क्या छिपाना, साग सब्जी और नोन-तेल के लिए भी जेब से पैसे खर्च नहीं करने पड़ते हैं। अपनी गाड़ी तो मज़े में चलती है।"

उसे लगा कि ओमकार पहला आदमी है जिसे उसने जीवन से इस प्रकार संतुष्ट पाया है। नज़र उठाकर देखा तो उसे मुस्कराते हुए पाया। ज्यादा सिगरेट पीने के कारण ओमकार के दान्तों पर भूरे रंग के धब्बे जैसे पड़े थे। दाढ़ी उसने शायद एक सप्ताह से नहीं बनाई थी। सिर पर कनटोप था। 'फिरन' तनिक ढीला था। लगता था कि यह आदमी कम से कम चालीस पैंतालीस साल का होगा।

'ओमकार भाई, तुम ज़रा स्मार्ट बनकर क्यों नहीं रहते ?" उसने कहा, 'तुम्हें इस रूप में देख कर कौन कहेगा कि तुम्हारी और मेरी आयु में केवल एक साल का अन्तर है ?"

"क्यों ? तुम्हें मेरा यह फिरन या कनटोप पसन्द नहीं आया ?" ओमकार ने पूछा।

"ये दोनों चीज़ें पसन्द आईं लेकिन तुम्हारी दाढ़ी नहीं। कम से कम तीन दिन के बाद शेव भी करना ही चाहिए।"

"अरे यार, रोज़ शेव करके मुझे किसे रिझाना है ? शादी भी हो चुकी है, नौकरी भी मिली है। आदमी को और क्या चाहिए ? हां अगर गर्ल स्टूडेन्टस में पापुलर बनने की आशा होती......"

शायद ओमकार भाई के लिए बात को इस प्रकार मजाक में टाल देना जरूरी था। ऐसा करके उसने अपनी बुद्धिमता का ही परिचय दिया था। और कोई होता—उसने सोचा—तो कहता, साले तुम मुझे समझाने वाले कौन होते हो ? ठीक ही तो है। यदि स्वयं लेक्चरार न होकर उसी की तरह किसी गांव में पटवारी होता तो शेव करने की बात दूर, पांच पांच दिन तक मुंह भी नहीं धोता। उसने बात-चीत का विषय बदलना ही उचित समझा। कहा, 'न जाने कितनी बार श्रीनगर आए होगे पर कभी मिले नहीं।"

"विश्वास करोगे ?" ओमकार ने उसी प्रकार मुस्कराते हुए

कहा, "पिछले डेढ़ साल से मैं एक बार भी श्रीनगर नहीं गया हूं। जरूरत ही नहीं पड़ी।"

लेकिन उसे सहसा विश्वास ही नहीं हुआ। बात सचमुच आश्चर्य की थी। लोग बड़े शहरों में भी लगातार रहते ऊब जाते हैं और इस माई के लाल को डेढ़ साल की अवधि में एक दिन के लिए भी यह गांव छोड़कर श्रीनगर जाने की कोई जरूरत नहीं पड़ी। निःसन्देह ऐसे लोग जय जयकार के योग्य हैं।

ओमकार ने ताड़ लिया कि प्रोफैसर को उसकी बात अविश्वसनीय लगी है। अतः खाना खाने के बाद उसने वस्तुस्थिति उसे विस्तार से समझा दी। इस गांव में ओमकार ने अपना प्रोग्राम वैसा ही बनाया था जैसा कि उसका श्रीनगर में हुआ करता था। यहां भी प्रतिदिन उस के घर पर दिन के दो बजे से लेकर रात के नौ बजे तक ताश की मंडली जुटती थी। कभी कभी खेल रात भर चलता था। मिडल स्कूल का हैडमास्टर, सरकारी डिस्पैंसरी का कम्पाऊंडर, कोआप्रेटिव का सुपरवाइज़र तथा अन्य पांच-छः व्यक्ति आते थे। किसी किसी दिन कीमा-रोटी का प्रोग्राम भी बनता था। आदमी को और क्या चाहिए ?

निश्चित समय पर आज भी ओमकार भाई के कमरे में ताश खेलने वालों की महफिल जुटी। कल जुटी थी या नहीं उसे मालूम नहीं। वह रात गए तक सैंटर पर सीटिंग एरेंजमैंट तथा अन्य व्यवस्था करने में लगा रहा था। ओमकार भाई के अनुरोध के बावजूद वह आज के खेल में शामिल नहीं हुआ। उसे रजिस्ट्रार के नाम एक-दो आवश्यक पत्र लिखने थे। एक सुपरवाइजर ड्यूटी पर हाजिर नहीं हुआ था। उसके स्थान पर उसने हाईस्कूल के एक अध्यापक की नियुक्ति की थी। उसका कन्फर्मेशन रजिस्ट्रार से प्राप्त करना था। दूसरा बुखारियों में जलाई जाने वाली लकड़ी के बारे में लिखना था। वह अभी पहला ही पत्र लिख रहा था कि हैदर आ गया। पैंतालीस मिनट की जगह वह एक घंटे से अधिक समय लगा चुका था। उसने कहा तो कुछ नहीं किन्तु इस दृष्टि से उसे देखा कि हैदर को चुपचाप सिर झुकाने के सिवा कोई चारा नहीं दीखा। दोनों पत्र लिख कर उसने लिफाफों में बन्द किए और हैदर से कहा कि वह उन्हें लैटर-बक्स में डाल आए।

"साहब, इस इम्तिहान-ड्यूटी के पैसे हमें कितने दिनों के बाद मिलेंगे ?" हैदर ने लिफाफे जेब में डालकर, झिझकते हुए पूछा।

'क्यों ? क्या करना है उन पैसों का ?'' क्रोध भड़क उठा—' सिगरेट केस खरीदना है या गौगिल । बोलो, क्या खरीदना है ?''

हैदर ने कुछ कहा नहीं । लजा कर जूते पहन लिए ग्रौर चल पड़ा। इस हैदर का क्या होगा ? वह सोचने लगा कि ग्रबकी बार ग्रवश्य प्रिंसिपल से कह कर उसका वेतन बन्द करवाना पड़ेगा । लाख समझाया कि तुम्हारी ग्रकेली जान है। साठ से ऊपर ही वेतन लेते हो । कुछ जोड़ो ताकि तुम्हारा भी घर बस सके । पर खुदा के बंदे ने रंगीली तबीयत पाई है । दो दिन पहले ही पचपन रुपये में एक भड़कीला स्वेटर खरीद लाया है। एक बार किसी कबाड़ी के यहां से इक्यासी रुपये में एक पुराना ग्रामोफोन उठा लाया था ।

ग्रोमकार भाई ने उसे ग्रपने कमरे से ग्रावाज़ दी । इस बार वह उनका ग्रनुरोध टाल नहीं सका ग्रौर वहां जाकर ताश खेलने लगा। मगर वह शीघ्र ही ऊब गया। ग्रपने कमरे में वापस ग्राकर उसने कपड़े बदल लिए ग्रौर कहीं थोड़ा सा घूमने के लिए निकल पड़ा।

भाभी ग्रांगन में एक ग्रौरत के साथ बतिया रही थी । कंघी करके उसने ग्रपने बालों को सुलझाया था। माथे पर बिन्दी लगा ली थी। ग्रखरोट की छाल से दांत साफ किए थे। दांत साफ हो गए थे या नहीं, लेकिन भाभी के होंट जरूर रंग गए थे । हां, साड़ी उसने वही पहनी थी, मैली ग्रौर एक दो जगह से फटी हुई । बेचारी साड़ी बदल भी कैसे सकती थी, वह सोचने लगा। कमरे इन लोगों के पास दो ही हैं। एक में ग्रोमकार भाई की मंडली जुटी थी ग्रौर दूसरे में स्वयं उसने डेरा डाला था । कपड़े-लत्ते ग्रौर दूसरा सामान तो इन्हीं दो कमरों में होगा । फिर भी यदि उसने कुछ समय के लिए शर्म छोड़कर ट्रंक से दूसरी साड़ी निकाली होती तो ग्रच्छा रहता। वह या ग्रोमकार के दोस्त उसे खा तो नहीं जाते। साड़ी निकाल कर वह चौके में भी बदल सकती थी। ग्रोमकार भाई ही यदि ट्रंक से साड़ी निकाल कर नीचे दे ग्राते तो क्या हर्ज था। वह भी कई बार बाथरूम में नहाती हुई कृष्णा के लिए वार्डरोब से अंगिया, ब्लाउज, पेटीकोट ग्रादि निकाल उसे दे ग्राया है। पर यहां ऐसी ग्रपेक्षा रखना मूर्खता है। इस ग्रायु के पति-पत्नी में प्रायः जो चुहल ग्रौर हंसी मजाक चलता है, उसका यहां ग्रभाव था। उसे इस घर में ग्राए लगभग चौबीस घंटे हो गए थे मगर पति-पत्नी को उसने ग्रापस में कोई बात करते नहीं देखा।

वह सोचते सोचते काफी दूर निकल गया था। सामने एक पठार था जिस पर जहां तहां हरियाली उग ग्राई थी। पठार के ऊपर एक

मस्जिद थी और दामन में बादाम के बहुत सारे वृक्ष जो इस समय बौर से लदे थे। जगह उसे बहुत पसन्द आई।

कितने प्यारे हैं बादामों के ये बौर! कितनी सुन्दर है श्वेत और गुलाबी रंग की यह बहार। किन्तु यदि बारिश हुई, जिसकी बहुत सम्भावना है, तो सब नष्ट हो जायेगा। यह मार्च का महीना वास्तव में बड़ा गन्दा महीना होता है। एक दिन धूप और दो दिन बारिश। कश्मीर में जो इस मौसम का नाम गन्दी बहार रखा गया है, वह बहुत उपयुक्त है।

तभी उसने देखा कोई व्यक्ति कन्धे से कैमरा लटकाए पठार से नीचे उतर रहा है। अरे! यह तो हैदर है। अच्छा हजरत ने नया कैमरा खरीदा है! हां, नया ही होगा। सितम्बर में ही उसका पुराना कैमरा सशस्त्र पुलिस वाले जब्त कर चुके हैं। कालेज के कुछ लड़के पिक्निक पर गांदरबल गए थे और यह हैदर भी उनके साथ था। लड़के जब पावर-हाउस देखने गए तो यह अपना कैमरा लेकर पहाड़ी के ऊपर चढ़ा, यह देखने के लिए कि इतना सारा पानी कहां से आता है? वहां ड्यूटी पर खड़े सशस्त्र पुलिस के सिपाहियों को कुछ शक हुआ और उन्होंने इससे नाम पूछा। हैदर ने भी अपना नाम हैदर खान बताया। सिपाहियों का शक यकीन में बदल गया कि जरूर यह आदमी पाकिस्तानी घुसपैठिया होगा। वह तो प्रोफेसर शर्मा और प्रोफेसर अशरफ़ ने पुलिस वालों को समझाया कि यह बेचारा ,कोई खान-शान नहीं, श्रीनगर के एक कालेज का एक चपरासी गुलाम हैदर भट है। उन्होंने उसे छोड़ तो दिया मगर उसका कैमरा जब्त कर लिया जिससे उसने पावर-हाउस के दो फोटो खींचे थे।

हैदर अपनी ही धुन में मस्त अकड़ अकड़ कर चल रहा था। निकट पहुंच कर जब उसने प्रोफेसर साहब को देखा तो उसकी सारी मस्ती और अकड़ गायब हो गई।

"कहां थे?" उसने आंखें तरेर कर पूछा। "कहीं नहीं साहब। ऐसे ही घूम रहा था।" हैदर ने घिघिया कर कहा।

"और यह कैमरा?"

"लिफाफे लैटर-बक्स में डाल कर डेरे पर गया था साहब। वहां से यह कैमरा निकाल लाया। सोचा इस सीनरी का एक दो फोटो खींच लूं।"

"सीनरी का बच्चा !" उसने हैदर का कैमरा छीन कर उसे डांटा, "भाग जा यहां से। कल सुबह छः बजे मेरे पास आ जाना। समझे।"

हैदर ने सिर हिलाकर हामी भरी और चुपचाप चला गया। उसके जाने के बाद उसने उलट-पलट कर कैमरे को देखा। कैमरा नया नहीं मामूली सा सैकंड-हैंड बाक्स-टाइप था। ज्यादा से ज्यादा हैदर ने इसे तीस-चालीस रुपये में खरीदा होगा। परन्तु तीस-चालीस रुपये भी मामूली रकम नहीं होती ! इस बार हैदर को सीधे रास्ते पर लाने के लिए जरूर कुछ न कुछ करना पड़ेगा।

लौटते समय उसकी भेंट डिपुटी सुपरिटेंडेंट से हो गई। वह उसे चाय पिलाने के लिए अपने घर ले गया। चाय के बाद बातों का सिल-सिला शुरू हुआ जो नौ बजे रात तक चला। उसे भी कोई जल्दी नहीं थी। साढ़े नौ बजे डेरे पर पहुंचा तो ताश खेलने वालों की मंडली विसर्जित हो चुकी थी। ओमकार भाई उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उसने कपड़े बदले। किसी नाटक के मूक दृश्य की भांति भाभी ने चुपचाप उनके आगे चादर बिछाई, चादर पर पानी भरे गिलास रखे तश्तरी लाकर दोनों के हाथ धुलाए और नीचे से थालियों में खाना परोस कर ले आई।

खाना खाने के बाद इधर-उधर की बातें चलीं। ओमकार भाई से मालूम हुआ कि उनकी आठ साल की एक और भी बच्ची है जो श्रीनगर में नाना-नानी के पास रहती है। उसने भी अपने पिता के बिगड़ते स्वास्थ्य की बात कही। साढ़े दस बजे के करीब ओमकार भाई अपने कमरे में, सोने के लिए चले गए। सोने से पहले थोड़ी देर तक पढ़ने के लिए वह उससे 'वीकली' का नया अंक भी मांग कर ले गए। ओमकार भाई के जाने के बाद उसने भी बिस्तर बिछाया। बिस्तर बिछा कर सोना चाहा पर नींद नहीं आई। कल भी बहुत रात गए तक नींद नहीं आई थी। शायद पराई जगह ऐसा ही होता है। उसके कमरे के ठीक नीचे रसोई थी और वहां से बर्तन मांजने की आवाज़ आ रही थी।...... यह भाभी भी मशीनी औरत है।

इतनी रात बीत गई पर उसे अब भी काम से फुर्सत नहीं। शायद उसे इसी में आनन्द मिलता है। तभी तो दस वर्ष में ही इतनी मोटी हो गई है। ......जाने नींद क्यों नहीं आती है? सोचा बिजली गुल करे पर याद आया कि कमरे में कोई स्विच नहीं है। दिन के समय होल्डर से लैम्प निकाल कर रखना पड़ता था। ......मीटर का न होना भी एक

मुरौवत है। मकान भी ओमकार भाई ने खास अच्छा नहीं लिया है। किराए पर कहां लिया होगा ? पटवारी है मुफ्त रह रहा होगा। ...... उसके और ओमकार भाई के मध्य लकड़ी का पार्टिशन था जिनके ऊपर पलस्तर चढ़ाया गया था। उसके बिस्तर के पास पलस्तर कुछ उखड़ गया था और वह दो पट्टियों की फांक से भली-भांति देख सकता था कि दूसरे कमरे में क्या हो रहा है। ......ओमकार भाई अपने बिस्तर में बैठे 'वीकली' के पन्ने पलट रहे थे। पास ही एक और बिस्तर बिछा था। ओमकार भाई का मन पत्रिका में नहीं लग रहा था। उन्होंने पत्रिका एक ओर रख दी। बिस्तर के भीतर रखी कांगड़ी बाहर निकाली और टांगें पसार कर सो गये।

भाभी बर्तन मांज चुकी थी। अब वह अगले दिन के लिए कुएं से पानी ढो रही थी। दूर कुएं में बालटी गिरने का धीमा शब्द, 'छप', सुनाई देता था। फिर नीचे चौके में एक बर्तन से दूसरे में पानी उंड़ेलने की आवाज़ आती। कुछ समय बाद फिर दूर से 'छप' की आवाज़ सुनाई देती और नीचे फिर एक बर्तन में पानी उंड़ेला जाता। वह नहीं समझ सका कि भाभी को इतने सारे पानी का क्या करना है ? वह पुनः उस अभागी के विषय में सोचने लगा। इस काम से निपट कर निश्चय ही वह किसी अन्य काम को हाथ में लेगी और उसे भी पूरा करने के बाद ही सोने के लिए ऊपर जायेगी। कमरे में आकर वह बच्ची के बिस्तर में घुस जायेगी और सुबह तक वैसी ही पड़ी रहेगी। सुबह फिर वही सिलसिला शुरू होगा......

तभी चौके के किवाड़ बन्द होने की आवाज़ आई। कुछ देर तक सीढ़ियों पर भाभी के कदमों की चाप सुनाई दी और फिर ओमकार भाई के कमरे का दरवाज़ा खुला।

उसने पट्टियों की फांक से झांक कर देखा। भाभी ने किवाड़ बन्द करके भीतर से सांकल चढ़ा ली। फिर कमरे के मध्य में आकर उसने साड़ी उतारी। अब उसके शरीर पर केवल पेटीकोट और ब्लाउज़ था। वह उस बिस्तर के पास गई जहां उसकी बच्ची सोई थी। पास के ताकचे से एक शीशी उठाकर वह बच्ची के चेहरे पर वैसलीन मलने लगी। उसने अपने हाथों और चेहरे पर भी वैसलीन मली।

फिर दृष्टि उठा कर ओमकार भाई की ओर देखा। वह नींद में मस्त पड़े थे। सहसा न जाने क्या सोचकर भाभी उठी। कमरे में जहां-

तहां कागज, रजिस्टर, कलमदान, ऐशट्रे आदि चीजें बिखरी पड़ी थीं। उसने एक एक करके यह चीजें उठाईं और उन्हें सम्भालकर ताकचे पर रखा। नीचे नमदे पर पड़ा 'फिरन' भी उठाकर उसने खूंटी से लटकाया और फिर झट ओमकार भाई के बिस्तर में जा घुसी।

अरे! ओमकार भाई सचमुच नहीं सोये थे। या शायद उनकी नींद अचानक टूट गई थी। भाभी के बिस्तर में घुसते ही उन्होंने उसे अपनी बाहों में जकड़ा और फिर......

एक विचित्र जुगुप्सा और वितृष्णा ने उसे आ घेरा और वह बिस्तर छोड़कर उठ खड़ा हुआ। पशु भी पहले एक दूसरे को चाटते-सूंघते हैं। ......बन्द कमरे में उसे घुटन सी महसूस हुई और वह खिड़की खोल कर बाहर देखने लगा। आकाश पर बादल छा गये थे। शायद रात में ही वर्षा शुरू हो जाए। अंधकार में दूर स्थित पठार, पठार के ऊपर की मस्जिद और दामन में बादामों के पेड़ों का उसे धुंधला सा आभास मिल रहा था। यदि वर्षा हुई, उसने सोचा, तो बादामों के बौर नष्ट हो जायेंगे। प्यारी-प्यारी पंखुड़ियां झड़ कर कीचड़ में मिल जायेंगी। हैदर ने शायद एक-दो स्नैप लिए होंगे। मामूली 'बॉक्स' कैमरा भी कभी कभी अच्छे रिज़ल्ट्स देता है। उसने फैसला किया कि वह कल ही हैदर को उसका कैमरा वापस करेगा; यदि उसने स्नैप' लिये होंगे तो उससे एक दो प्रिंट' भी मांगेगा।

छत्रपाल

अपने आसपास की स्थितियों में विसंगतियां जीते पात्रों की छटपटाहट अपने भीतर महसूस करके जब भी किसी कहानी के रचना-काल से गुजरता हूं तो अपने भीतर उसी छटपटाहट की प्रतिध्वनियां बड़ी तीव्रता से महसूस करता हूं। यह अनुभूति जितनी तीव्र होगी अभिव्यक्ति में उतना ही अधिक प्रभाव होगा।

बहुत बार पात्रों से एकाकार हो जाने की सीमा तक जुड़ जाता हूं—वह पात्र अनुभूत हों या देखे-सुने। ऐसे में अपने और पात्रों के दरम्यान लेखक और पात्र में रिश्ते का मेरे सामने कोई वजूद शेष नहीं रहता। अतः किसी घटना या स्थिति से पूर्ण रूप से सम्बद्ध हुए बगैर मैं कभी कुछ लिख नहीं पाता।

केवल कथ्य की नवीनता का मेरे सामने विशेष महत्त्व नहीं रहता। मुख्य रूप से कथ्य के निर्वाह की ओर मेरा ध्यान केन्द्रित रहता है। घटनाओं के लम्बे-चौड़े कैनवस के स्थान पर छोटे-छोटे मार्मिक प्रसंगों को मनोवैज्ञानिक ढंग से उकेर कर प्रभाव उत्पन्न करने के प्रयास से मेरी कहानियां सहज ही मन को छू लेती हैं। मैं तमाम नारों और आन्दोलनों में स्वर मिलाए बगैर मानवीय कहानियों की रचना में विश्वास रखता हूं।

रोशनी से दूर

वे उन लोगों में से थे, जिनके सिरों पर उदासी का ताज होता है. कुछ वैसा ही, जैसे कैलेंडरों में देवताओं के सिरों के पीछे । फर्क केवल अंधेरे और रोशनी के वृत्तचक्र का था ।

देखने में वे मुझे पहले से कुछ कमज़ोर लगे किन्तु मैं इस बात का अंदाज़ा नहीं लगा सका कि कमज़ोरी ने उनके शरीर के किस हिस्से पर हस्ताक्षर किए हैं । एक बात स्पष्ट थी, उनकी आंखें भीतर धंसने की अपेक्षा बाहर उभर आयी थीं, जैसे किसी ने उनकी गर्दन दबा रखी हो । कपड़े वे पिछली बार वाले ही पहने हुए थे । किसी अपरिचित रंग का कोट और वैसी ही पतलून । दूर से पतलून कुछ भूरी लगी पास आने पर देखा, कपड़े के साथ-साथ रंग भी घिस गया है ।

"आज तो आप चलेंगे न ?" मुझ से हाथ मिलाते-मिलाते उनकी आंखों में याचना के स्वर उभर आए, "घर पास ही है, आपको अधिक चलना नहीं पड़ेगा ।"

उत्तर देने के बजाय मैं सड़क की ओर देखने लगा, "यदि मेरे चलने से उसका कुछ भला हो सकता है तो चलिए ।"

मेरी अनिच्छा का कोड़ा खाकर वे हतोत्साहित हो गए हैं, उनके चेहरे से लग रहा था । सारी उपेक्षा थूक के साथ निगल कर उन्होंने एक गली की ओर इशारा किया...'चलिए इसत रफ......'

मैंने अपने को दोनों बैसाखियों पर तोला और उनके पीछे चलने लगा......ठक-ठक......ठक-ठक......

गली पतली थी और उसके दोनों तरफ पुराने और अनाकर्षक मकानों का सिलसिला था, ढलती दोपहर के कुछ टुकड़े मकानों के जंगलों को पार कर गली में अजीब-अजीब आकृतियां लेकर पसरे हुए थे । बीच-बीच में वे मुझे पीछे मुड़ कर देख लिया करते थे । जहां भी गली से कोई नई गली निकलती, वे आगे होकर इशारा कर देते—'इस तरफ'...



मेरी उनसे यह दूसरी मुलाकात थी ।

पिछली बार वे लोकल बस में मिले थे। रविवार था, बस में बहुत भीड़ थी। भीड़ में सिर गड़ा कर सुविधाजनक स्थान की तलाश में मैं उनकी सीट तक जा पहुंचा था। भीड़ का दबाव अपेक्षाकृत कम था। एक हाथ से रॉड का सहारा लिए और दूसरे से दोनों बैसाखियां संभाले खड़े होने में तब भी काफी असुविधा हो रही थी। इन अवसरों पर बहुत बार ऐसा होता है कि कोई आदमी तरस खाकर मुझे सीट आफर कर देता है। उन क्षणों से मुझे सख्त नफरत है। जब लोगों के लिए मेरा नहीं, मेरी अपंगता का ही अस्तित्व रह जाता है। मैं एक बींधते एहसास से लिपटा सा जाता हूं। बस के किसी मोड़ पर मुड़ते हुए मेरी बैसाखियां उनके कंधे से टकरा गयीं।

आदमी को चेहरे से पहचानने की शायद उनकी आदत नहीं थी, क्योंकि मुझे सीट देते समय उन्होंने मेरी ओर नहीं देखा था।

"आप यहां बैठ जाइए।"

'नहीं आप बैठे रहिए। मैं ठीक हूं"

लोगों द्वारा फेंके गए सहानुभूति के टुकड़ों को बटोरते समय अपनी स्थिति और भी दारुण लगती है।

'नहीं, आप आ जाइए......' जब उनके साथ आसपास के कुछ लोगों ने भी स्वर मिलाया, तो मुझे बैठना पड़ा। उनका थोपा हुआ उपकार कचोटने लगा।

लोगों को कितने गलत कोण से देखने की आदत है। वे समझते हैं कि ऐसा करने से वे एक उपकार कर रहे हैं।

आसपास की सवारियां मुझे घूर रही थीं। और यही सब से बड़ी चीज है जिससे मैं झिझकता—कतराता हूं। बहुत बार कल्पना करता हूं कि मैं किसी भी आंख के फोकस में नहीं आ रहा हूं। निर्द्वन्द्व घूम-फिर रहा हूं। हर एक के सामने से सर्र से गुजर जाता हूं। लेकिन दूसरे ही क्षण अपनी अतृप्त इच्छाओं की खुली उड़ान पर हंसी आ जाती है।

रास्ते भर वे बोले नहीं। कुछ पूछा भी नहीं. जैसे कि आम लोग उपकार करने के बाद पूछना अपना अधिकार समझते हैं—कब से ऐसा है......ठीक नहीं हुआ......इलाज नहीं करवाया।

मैंने गौर से देखा। वे दुबले-पतले थे। चौकोर चेहरा। पीला रंग, ढीली चमड़ी।

मैं अपने स्टाप पर उतरा तो वे भी पीछे-पीछे उतर पड़े। फिर मेरे साथ-साथ चलने लगे।

"मेरे लड़के को भी यही नुक्स है।" उन्होंने बिना किसी भूमिका के कहा।

'कितनी उम्र है!' कुछ समय के अन्तराल के बाद मैंने पूछा।

'तेरह साल......'

'कब से है?'

'गत छह महीनों से......'

बात करते-करते हम चुप हो जाते, तो खामोशी बोलने लगती—सांझी वेदना का एक पुल मुझे उनसे जोड़ गया।

'कोई इलाज नहीं करवाया?'

'बहुत करवाया, पर कोई फायदा नहीं हुआ।'

'अब कहां है?'

'घर......'

'बहुत घबराता होगा?'

'जी हां! शुरू-शुरू में तो उसे कुछ समझ ही नहीं आया, पर जब से उसे कुछ-कुछ पता लगने लगा है, बहुत घबराता है हर वक्त सुबकता रहता है! आप देखेंगे?'

मैं कुछ कह नहीं सका। मुझे चुप देख कर वे बोले, "आप से एक प्रार्थना है......" उनकी आवाज में एक नौसिखिये भिखारी की गिड़गिड़ाहट थी—'आप किसी दिन घर आकर उसे ढाढ़स बंधा जायें। असल में मैं पिछले कुछ दिनों से आप जैसे किसी आदमी की तलाश में था, जो उसे जीने की प्रेरणा दे सके। सचमुच, वह बहुत घबराया हुआ है।'

चलते-चलते वे रुक गये, 'चलेंगे न मेरे साथ?'

'हां-हां, किसी दिन अवश्य आऊंगा।'

'बहुत-बहुत धन्यवाद' कृतज्ञतावश उन्होंने मेरा हाथ दबाया। चेहरा अति दयनीय हो आया। उन्होंने 'नमस्ते' कही और चले गये। मैंने देखा—तंग पीठ और आगे की ओर झुके कंधे।

बस-स्टाप पर जाकर वे अगली बस के इंतज़ार में क्यू के अन्त में खड़े हो गये।



गली एक पार्क में खुलती थी। पार्क के चारों ओर एक मंजिला मकान के मैदान में बच्चे फुटबाल खेल रहे थे। हमें देख कर कुछ बच्चे खेल छोड़ कर पार्क के जंगले पर आकर दिलचस्पी से देखने लगे। अपने को दृष्टव्य बनने से रोकने के लिए मैंने एकाध को बुलाया भी पर वे भाग गये। जाते-जाते कुछ फेंक भी गये...'लंगड़ा बाबा'। उनकी ओर देखा। वे नज़रें झुकाये बेलाग चल रहे थे। जैसे उन्होंने कुछ सुना ही न हो।

पार्क का चक्कर काट कर वे एक मकान के सामने खड़े हो गये। 'आइए......।'

मकान अपनी उम्र भोग चुका था। दीवारों पर काई जम गयी थी। बाहर का दरवाज़ा बाकी घरों से छोटा था। ड्योढ़ी पार कर हम आंगन में आये। भीतर न टूटने वाली खामोशी थी। बैसाखियों की ठक-ठक पूरे घर में प्रतिध्वनित हो रही थी। कच्चे आंगन के पार बरामदे में पटरे पर बैठी एक औरत सब्जी काट रही थी। उसने ठोडी घुटनों पर टिका रखी थी। उसने हमें देखा; तो खड़े होने के उपक्रम में हिल-डुल कर पुनः वैसे ही बैठ गयी।

वे मुझे एक कमरे में ले आये, जहां एक तरफ पुराने डिजाइन का आबनूसी पलंग था और दूसरी तरफ ऊंची पुश्तवाली दो कुर्सियां।

पलंग पर हमारी ओर पीठ किए लड़का लेटा हुआ था। और बड़ी तन्मयता से खिड़की से बाहर खेलते हुए बच्चों को देख रहा था। हमारे आने की उसे खबर तक नहीं हुई क्योंकि कुछ देर हमारे वहां खड़े रहने पर भी उसने मुड़ कर नहीं देखा।

'देखो तो बेटा, कौन आया है ?' उन्होंने ऊंची आवाज में कहा, जिसे घर की खामोशी ने और भी उछाला। उसने करवट बदली। पहले उसकी नज़र उन पर पड़ी, बाद में मुझ पर। वह तत्काल कुछ बोला नहीं, चुपचाप मुझे ऊपर से नीचे तक देखता रहा।

'इन्हें नमस्ते करो बेटा......यह तुम्हें देखने आये हैं।'

उसने बैठते हुए मुझे नमस्ते की, बिना हाथ जोड़े।

'कैसे हो बेटे ?' मैंने उसके पैताने बैठते हुए पूछा। मुझे कोई उत्तर

देने के बजाय उसने उनकी ओर देखा। मानो पूछ रहा हो कि क्या उत्तर दूं।

वे कुर्सी खींच कर पलंग के सिरहाने बैठ गये।

'आपकी कौन-सी है?' उसके शब्द, राह चलते आदमी के सिर पर मुंडेर से गिरी ईंट की तरह पड़े। अपने संदर्भहीन प्रश्न से उसने भी मेरी कुशलक्षेम पूछी थी।

'दायीं ......।'

'पर मेरी तो दोनों खराब हैं।' उसने डूबती सी आवाज़ में कहा।

उन्होंने मुझे आंख से इशारा किया—अब ज़रा संभल कर बात करना।

"आप को यह सब हुआ कैसे?"

'बचपन में बुखार आया था, उसी से हो गया।'



गर्मियों की वह दोपहर याद हो आयी। सो कर उठा तो दुनियां बदल चुकी थी। चारपाई से नीचे पांव रखा। दायीं टांग में जैसे पानी आ गया था। अपनी ही टांग का सहारा न पाकर धड़ाम से गिर पड़ा। चीख सुनकर मां और नानी घबराई हुई दौड़ी आईं और मेरे पांव दबाने लगीं। बार-बार पैर पटकने पर भी टांग संज्ञाहीन रही, चींटियां रेंगती रहीं।

डाक्टर के आने तक चींटियां लौट चुकी थीं और अपने साथ ले गयी थीं पुट्ठों की कुल चेतना, उनकी हरकत करने की ताकत। डाक्टर ने पोलियो बताया, तो मां सिल-पत्थर हो गयी।

'किसी डाक्टर को नहीं दिखाया था!' लड़का बोला।

'बहुतों को दिखाया, पर ठीक नहीं हो सका।'

'तब तो मैं भी ठीक नहीं हो सकूंगा।' उसने मेरी बात को अपने ऊपर ओढ़ लिया।

'नहीं......नहीं, ऐसी कोई बात नहीं......' मैंने जल्दी से कहा, 'तुम्हें घबराना नहीं चाहिए। तुम कोई ऐसे थोड़े रहोगे। यह तो कुछ दिनों की बात है, इसे तुम सह लो। फिर देखना तुम पहले की तरह दौड़ने लगोगे!'

मैंने उनकी ओर देखा, तो उन्होंने आंखों-ही-आंखों मुझे सराहा।

'लेकिन आप क्यों ठीक नहीं हो सके ?'

'उस वक्त मैडीकल साइंस ने इतनी तरक्की नहीं की थी। लेकिन अब तो बनावटी अंग तक लगने लगे हैं।' मैं उसकी आंखों की चमक बुझने नहीं देना चाहता था।

'पर मेरी एक बांह भी तो खराब है।'

उसके शब्द मुझे ठंडी छुरी की तरह काटते चले गये। उसने बायें मुर्दा बाजू को दायें हाथ से उठाया और धम से नीचे छोड़ दिया। मैं उसे देख नहीं सका। उन्होंने भी मुंह फेर लिया था।

एकाएक बाहर बच्चों ने हल्ला मचाया। शायद गोल हो चुका था। हम तीनों खिड़की के बाहर देखने लगे।

'बनावटी अंग लगने पर क्या मैं फुटबाल खेल सकूंगा ?' उसने हल्की आवाज़ में पूछा।

'फुटबाल तो नहीं, हां इनडोर गेम्स अवश्य खेल सकोगे। इनडोर समझते हो न—जो घर में खेले जायें। जैसे कैरमबोर्ड, ताश, पिंगपांग...' उसने जैसे सुना ही नहीं, पूर्ववत बाहर देखता रहा।

बरामदे में किसी की सिसकारी की आवाज़ आई। और दूसरे ही क्षण हाथ थामे वह भीतर आयीं। उनकी अंगुली कट गई थी, खून बह रहा था। वे लपक कर उसकी ओर बढ़े। मैं भी उठ खड़ा हुआ।

आप इसकी अंगुली को ज़रा सीधा पकड़े रखें, मैं स्प्रिट और रुई लेकर आता हूं। वह पास आ गई। मैंने उसका हाथ पकड़ कर ऊपर उठा दिया; ताकि खून अधिक न बहे। उसका हाथ कांप रहा था। मेरे इतने पास खड़े होने से उसे कुछ परेशानी हो रही थी। रसोई में बर्तन गिरने की आवाज़ों के बाद वे दौड़ते हुए आए। रुई के एक बड़े फाहे को स्प्रिट में भिगो कर ज़ख्म पर रखा। उसके मुंह से एक दो सिस-कारियां निकलीं, पर शीघ्र ही उसने उस पर काबू पा लिया, लेकिन वह दूसरा हाथ झटकार रही थी। वे कहीं से किसी पुरानी चुन्नी से फाड़ कर पट्टी ले आये और उसकी अंगुली पर बांधने लगे।

'तुमसे कितनी बार कहा है कि जो काम कर रही होती हो, उसी में ध्यान रखा करो।' गांठ बांधते हुए वे बोले।

उसने उत्तर में उनकी तरफ देखा और स्प्रिट की शीशी उठाकर बाहर चली गयीं।

'दरअसल जब से इसकी टांगें खराब हुई हैं, उसे भी कुछ हो गया है। हमेशा खोयी खोयी रहती है।'

'आपकी मां को भी बुरा लगा होगा।' लड़का जो गौर से हमारी बात सुन रहा था, बोला।

'हां लगता तो था। पर वह बेचारी कभी कुछ नहीं बोली।' ठंडी सांस के साथ मेरे मुंह से निकला।

'और आप को......?'

सोचा कहूं, जब तुम कुछ और बड़े होगे तो महसूस करोगे कि तुम्हारे साथ कितना खौफनाक मजाक किया गया है। तुम्हारे आसपास सभी चीजें गतिशील होंगी और तुम एक स्थान पर बंधे रहोगे! तुम्हारी पूरी जिन्दगी एक नारकीयता को समर्पित होगी। शायद किसी दिन तुम यह भी पूछो कि चलना क्या होता है? क्या उत्तर मिलेगा तुम्हें?

'हां, पहले पहले कुछ लगता था, पर अब जैसे आदत पड़ गयी है।' मैंने ओढ़ी हुई लापरवाही से कहा। हालांकि अपनी ही झूठी बातों से मुझे बेचैनी हो रही थी। उसके हर सवाल पर और मेरे हर जवाब पर वे सांस रोक लेते और आशंका से हमें बारी-बारी देखते।

'आपको किसी ने छेड़ा नहीं?'

'न,......अपन को कोई नहीं छेड़ता......' मैंने उसी लापरवाही से कहा। उसे आश्चर्य हुआ।

'कभी नहीं......?'

'न......'

आज भी रास्ते में चलते-चलते पीछे से आती आवाजों को सुनकर तटस्थ भाव से चलने का अभिनय करना, सब सुन कर नजरअंदाज करना, सीने में इन लाल सुर्ख सलाखों का दगना, आम बात हो गयी है।

हमारे साथ एक लड़का पढ़ा करता था। उसकी एक टांग कट चुकी थी। सभी उसे छेड़ते थे। कोई उसे थप्पड़ मार कर भाग जाता, तो कोई बैसाखी छीन कर उस से कुछ दूर खड़ा होकर उसे चिढ़ाता। वह कभी गुस्से में अपने बाल नोंचता, डेस्क पर मुक्के मारता, तो कभी रो पड़ता। वह चिल्लाता, भगवान तुम्हें भी मेरे जैसा कर दे। एक दिन मैं भी उसकी बैसाखी छीन कर भाग गया था। उसने वही कहा था - भगवान तुम्हें भी......उसी का पाप लगा है मुझे।'

एकाएक उसकी रुलाई फूट पड़ी और वह हिलक-हिलक कर रोने लगा।

'मैं स्कूल नहीं जाऊंगा......लड़के मुझे छेड़ेंगे......मैं कहीं नहीं जाऊंगा।'

मेरे भीतर से कोई अंधड़ उठा और आकर गले में अटक गया। जी हुआ, कह दूं, तुम अब जा ही कहां सकोगे। सफर के प्यासे, तुम्हारे पांव थक कर चिरनिद्रा में सो गये हैं। 'अब तुम्हें व्हील चेयर' पर ही अपनी दुनिया बसानी होगी—पहियों पर घूमती ज़िंदगी।'

वे कुर्सी से उठ कर उसके सिर पर हाथ फेरने लगे। पुचकार कर उसे चुप कराने लगे।

बाहर दीवारों की नींवों से सरक कर मुंडेरों पर अटके धूप के आखरी टुकड़े भी विदा ले चुके थे। गली की सारी आवाज़ें जैसे गली की दीवारों में जज्ब हो चुकी थीं। बच्चे पार्क से चले गये थे।

लड़का सो गया तो वे कमरे में टहलने लगे। उनके चेहरे पर वही भाव थे जो दुखी और लाचार लोगों के चेहरों पर होते हैं।

अंधेरा हो आया था। उन्होंने स्विच ऑन किया, पर रोशनी नहीं हुई। हमारी आंखें एक साथ बल्ब पर जा अटकीं।

'शायद पावर नहीं है। मैं मोमबत्ती लाता हूं।' वे कमरे से बाहर चले गये।

मोमबत्ती उन्होंने अभी रखी ही थी कि बल्ब जल उठा। उन्होंने मोमबत्ती बुझा दी, मेरी हर चीज फिजूल जाती है,' वे हंसते हुए बोले।

सोते लड़के का चेहरा रोशनी में बड़ा मासूम लगा। आंखें उन्हीं जैसी थीं। बड़ी-बड़ी, बाहर उभरी हुईं। उसे यूं पलंग पर पड़ा देख मुझे लगा, पलंग पर मैं लेटा हूं। पास बैठी मां मेरी टांग पर हाथ फ़ेर कर रो रही है और नानी मेरा सिर सहला रही हैं। आंखों के सामने से वे शहर गुज़र जाते हैं जो उन दिनों मुझे एक जैसे लगते थे।

मां और नानी मुझे लिए शहर-दर-शहर फिरतीं। डाक्टरों के सामने गिड़गिड़ातीं। उन्हें विश्वास था कि अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। डाक्टरों ने बहुत प्रयत्न किए, लेकिन चीड़ियां लौट कर नहीं आयीं। जांघ की

सूखी निर्जीव मछलियां बिल्कुल निष्क्रिय हो गयी थीं..... और जब हर डाक्टर वही जवाब देने लगा तो नानी मुझे और मां को लेकर इस शहर में अपने मकान में ले आयीं। मां सयानी थी। उसने मेरी अपंगता को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया। पर नानी तब भी एक मुर्दा आस अपने साथ घसीटे जा रही थी। उसके अपने विश्वास और आस्थाएं थीं। वह कैसे स्वीकार कर सकती थी कि उस के कुल की आखरी ज्योति इतनी निस्तेज हो सकती है......।

और मैं! सारा दिन बैठा रहता। बैठे-बैठे उकता जाता। तो हाथों-पैरों पर चलने लगता। चौपायों की तरह। बचपन का नाम लेते ही आंखों के सामने एक चौपाया जानवर रेंगने लगता है, मन कड़वाहट से भर उठता है। शायद वह जानवर मेरे विकास की एक आवश्यक अवस्था थी।

आदमी अक्सर बचपन की तरफ भागना चाहता है और मैं!......

मां के बहुत समझाने पर एक दिन नानी ने भी मेरी अपंगता को स्वीकार कर लिया। शरीर का वज़न ढोते-ढोते मेरी कलाइयां मुड़ने लगी थीं। असाधारण रूप से फैलती हथेलियों की चमड़ी फटने लगी थी। एक जोड़ी बैसाखियां थमाते-थमाते वह फूट पड़ी थी। मां मुंह में चुन्नी ठूंस कर दूसरे कमरे में चली गई। फिर नानी ने मुझे चलना सिखलाया...दूसरी बार। बगलों में छाले पड़ जाते थे, जिन पर वह सोते समय बांस घिस-घिस कर लेप करती, बाद में ज्यों-ज्यों बैसाखियां बड़ी होती गयीं, छाले पकते गये, लेकिन कंधों में दर्द के तार कसते गये, अब भी रात-रात भर टीसते रहते हैं।

सीधे खड़े हो. कुछ ऊंचाई से, आस-पास की चीज़ों को देखना कितना आनन्ददायक है, मैंने उन्हीं दिनों महसूस किया। उससे पहले कभी जी भर कर आसमान नहीं देखा था।

इस सब के बावजूद बाहर की दुनियां कुछ और निकली। अपनी स्थिति पर मुझे संतोष हो जाता, यदि मैं स्कूल में बाकी लड़कों को तितलियों की तरह उड़ते-फिरते न देखता। जी होता, बैसाखियां फैंक कर भाग जाऊं कहीं दूर, जहां मुझे इन्हें न उठाना पड़े, या इन्हें मुझे।

स्कूल से घिसटता-घिसटता घर पहुंचता तो मन टूट गया होता। नानी काल्पनिक किस्से कहानियों से फिर जोड़ती और दूसरे दिन के लिए तैयार करती। धीरे-धीरे नानी की बेबुनियाद दुनियां मिट गयी, जो उसने

मेरे भीतर बना दी थी। उसने कह रखा था कि विकलांगों को आसपास के लोगों की सहानुभूति मिलती है, पर लड़के मुझे बड़ी निर्दयता से छेड़ते थे। वह कहती थी, आजकल शारीरिक क्षमता का विशेष महत्त्व नहीं है और मुझे हर काम के लिए दूसरों पर आश्रित होना पड़ता था।

नानी के लिए मन में अलगाव भरता गया। मुझे उस पर गुस्सा भी आता कि क्यों उसने गलत किस्म की बातें मेरे भीतर भर दी हैं। ऐसी बातें, जो असलियत को बड़ी खूबसूरती से ढक लेती हैं, पर इन बातों का छोर पकड़ कर जब आप दुनियां में जाते हैं तो अपने को बड़ी दयनीय स्थिति में पाते हैं। मगर आज सोचता हूं कि नानी ने यथार्थ की लपलपाती-चमकती किरचों को कुंद करने के लिये, यदि उन बातों का जाल न रचा होता तो शायद मैं उनको सहन न कर पाता। नानी प्राय: कहा करती थी—तू हमारे कुल का दीपक है। मैं और तेरी मां, तेरा मुंह देख कर ही जी रहे हैं।

अपने कुलदीपक की हालत देख कर मां मुझ से बेलाग हो गयी थी। वह बड़ी मानिनी नारी थी। उसने किसी से कभी कुछ नहीं कहा। एक-एक करके उसने अपने को आस-पास से जोड़ने वाले सभी तंतुओं को तोड़ दिया और बेहद अकेलेपन में एक खामोश मौत मर गयीं।

नानी की मौत इस से भी भयानक थी। मरने से काफी देर पहले, जब आंखों की ज्योति की तरह उसकी आस की ज्योति भी बुझ गई थी तो उसके भीतर केवल धुआं ही धुआं था, कड़ुवा धुआं। जाती उम्र में लकवा हुआ। वामांग काठ हो गया। अब मानता हूं, मेरी अपंगता ने ही उसे अपाहिज बनाया था। मैं ध्वनि था तो वह प्रतिध्वनि। जैसी आवाज़ वैसी ही अनुगूंज। जीवन भर वह सुलगती रही। मुझे ज़िंदा रखने के लिए, अपने को तिल-तिल कर मिटाती रही। और कितनी अजीब बात है कि जब उसकी चिता को आग लगायी गयी, तो बारिश होने लगी थी। आग मद्धिम पड़ते-पड़ते कुछ देर बाद बिल्कुल बुझ गयी थी। धुआं उठता रहा, बारिश रुकने पर गीली लकड़ियों ने बहुत प्रयत्न करने पर भी पहले जैसी आग नहीं पकड़ी। अधजली लकड़ियां सुलगती रहीं—साथ में नानी भी। शेष रहा धुआं! कुछ देर बाद वह भी हवा में घुल गया।



'आपके बच्चों को तो इस प्रकार का कोई रोग नहीं न ?' जाने क्या सोचकर उसने मुझसे यह पूछा था। एकदम कोई उत्तर नहीं सूझा।

'न ....नहीं, दोनों ठीक हैं! बड़ी क्लासों में पढ़ते हैं, काम में मेरा हाथ बटाते हैं!' इस प्रकार का अपने को छलने वाला झूठ बोलते समय आदमी को भीतर ही भीतर काट देने वाली अनुभूति होती है। इससे उसकी आंखों के सामने उन चीज़ों के आयाम उभर आते हैं जो उसे नहीं मिलीं। फिर मन सोचने लगता है - काश! ऐसा न होकर वैसा होता। जैसे, मैं ठीक होता, नानी की इच्छानुसार ब्याह हो गया होता बच्चे होते ; तो संसार कैसा होता ?

मां की मृत्यु के बाद, नानी को घर में किसी औरत की अनुपस्थिति खलने लगी थी। मैं किसी काम में लापरवाही करता, देर से घर लौटता तो वह मीठी फटकार से अंत में अवश्य जोड़ देती थी कि बहू आएगी तो नकेल डालकर रखेगी। उसकी बातें सुनकर मुझे डर लगने लगता। भीतर ही भीतर कहीं उस पर तरस भी आता; जाने क्या-क्या आशाएं लेकर बैठी है।

अपनी तरफ से उसने बहुत कुछ किया। लोगों की दहलीजों पर माथा पटक-पटक कर वह थकती नहीं थी। जहां भी कहीं कोई शादी-ब्याह होता, वह गिरती-पड़ती पहुंच जाती और खोटे सिक्के को चलाने की कोशिश करती, झोली फैलाती, औरतें उसके खटराग पर झुंझलातीं — बुढ़िया जहां भी जाती है, अपना रोना लेकर बैठ जाती है। कोई भी उसकी बात पर कान नहीं धरता। तो आंसू पोंछते-पोंछते किस्मत को कोसती—भाग अच्छे होते तो उसके साथ ऐसा होता ही क्यों ? इतनी ऊंची किस्मत ही नहीं!

'मैं आपके छोटे लड़के से दोस्ती करूंगा। आप किसी दिन उसे लायेंगे न ?'

'हां लाऊंगा......' आगे मेरी आवाज़ रेत में बिखरी नदी की तरह सूख गयी। लगा, यदि विषय को बदला नहीं गया तो मेरा दिल डूबने लगेगा।

'और बेटा! तुम जानते हो, इनकी किताबों की दुकान है। 'वे सारी स्थिति को समझ कर मेरी मदद को आये थे।'

'अच्छा......!' उसे सुखद आश्चर्य हुआ, 'तब तो आपके यहां कहानियों की किताबें भी होंगी ?'

'हां ढेरों हैं ! किसी दिन तुम्हारे डैडी के हाथों भिजवाऊंगा ।'

'नहीं, अपने छोटे लड़के के हाथों भिजवाए । इसी बहाने मैं उससे दोस्ती भी कर लूंगा । इस गली के सभी लड़के गंदे हैं ।' उसकी नज़रें खिड़की को पार कर पार्क तक गयीं, जहां अब कोई नहीं था ।

वह कमरे में आयी । बिना मेरी तरफ देखे उनकी ओर बढ़ी । एक पल पास खड़े होकर उनसे बोली, 'खाना यह यहीं खायेंगे ?'

'तो पहले खाना ही खा लेते हैं । आपको भूख लगी होगी ।'

'नहीं खास नहीं......' पर मैं साफ़ न नहीं कर सका । वह लड़के के पास आकर बोली, 'राजे, तुम यहीं खाओगे कि रसोई में ?'

'आप जायें, मुझे अभी भूख नहीं है । बाद में खा लूंगा ।'

रसोई छोटी-सी थी । मुझे एक मोढ़े पर बिठा कर वे अलमारी से थाली-कटोरी निकालने लगे । वह स्टोव पर तवा रख कर पंप मारने लगीं । पानी गिलासों में उंडेल कर वे सामने, उसके पास बैठ गये ।

'आप यहां...कहीं सर्विस करते हैं कि अपना काम ?' हाथ धोते हुये मैंने पूछा ।

'मैं ट्रांस्पोर्ट में क्लर्क हूं । अब तो खैर रिटायर होने वाला हूं ।'

'पर आपके चेहरे से लगता तो नहीं कि आप इतनी उम्र के होंगे ।' मुझे उनकी बात पर हैरानी हुई ।

वे हंसे, 'हां, कुछ लोग होते हैं, जिनके चेहरे से उनकी उम्र का अन्दाज़ा लगाना मुश्किल होता है । बाहर से कैसे भी हों, भीतर से वे घुन खाये होते हैं ।'

उनकी पत्नी के बेलन फिराते हाथ रुक गये, उसने क्षणांश के लिए उन्हें घूरा; जैसे कह रही हो—एक अपरिचित आदमी के सामने इतना ज्यादा खुलने की क्या आवश्यकता है ?

खाने के बाद कमरे में आये तो लड़का सो गया था । वे मेरे पास वाली कुर्सी पर बैठ गए । कुछ देर बैठने के बाद मैंने महसूस किया कि अब मुझे लौटना चाहिये । मैं मन ही मन उनसे आज्ञा लेकर जाने की सोच रहा था कि वह दहलीज पर खड़ी दिखाई दी । उनके हाथ में एक शाल था । वह पहले की तरह बिना इधर-उधर देखे भीतर आई और शाल उनके कन्धों पर ओढ़ा दिया । मुझे लगा यह उसके रोज़ के कार्यों में से एक है ।

'आपको तो ठंड नहीं लग रही न ? मुझे इधर बहुत सर्दी लगने लगी है। पिछले छः महीनों से भटक-भटक कर शरीर टूट गया है। वे आगे भी कुछ कहते पर शाल ठीक करने के बहाने उसने उनकी पीठ पर दबाव डाला तो वे चुप हो गए। वह जाने लगी।

'तो मुझे इजाज़त दीजिए !' मैंने उठते हुए कहा।

मेरी बात सुनकर वह दहलीज पर ठिठक गई। वहीं से उन्हें बुलाया। पहले तो उन्होंने प्रश्नसूचक आंखों से उसे देखा, पर जब वह पास नहीं आई, तो वे उठे। उनके कान में जल्दी से कुछ कह कर वह चली गई।

'आपको बुला रही है, दूसरे कमरे में !' वे मुझ से कह रहे थे। फिर एकदम पास आकर बोले 'वह लड़के के बारे में ही पूछेगी आप से। उसे पता न चलने पाये कि वह ठीक नहीं होगा... .....आज तक मैंने उसे ग़लतफहमी में डाल रखा है और मैं नहीं चाहता कि उसे अभी असलियत का पता चले।' मेरा कंधा थपथपा कर वे मुझे हौंसला बंधाने लगे, 'मैं जानता हूं कि इस किस्म का झूठ बोलने में आपको कितना क्लेश होगा, पर.........।'

वह दोनों हाथ पीछे किये दीवार के सहारे खड़ी थी। उसके चेहरे से साफ लग रहा था कि बहुत तैयारी के बाद ही वह मेरा सामना करने के काबिल हुई है। मेरा अपनी ओर देखना वह सह न सकी, नज़रें झुका लीं।

'आप समझते हैं कि वह ठीक हो जाएगा !' उसने दबी हुई आवाज में पूछा।

'मैं निश्चित रूप से कुछ कह नहीं सकता......'

'पर मैं जानती हूं......वह कभी ठीक नहीं होगा, कभी नहीं।' उसकी आवाज़ में एक अजीब सी दृढ़ता थी। मुझे डर महसूस हुआ।

'लाख कोशिश करने पर भी हम उसकी टांगें वापिस नहीं ला सकते। पर वे दोनों किसी चमत्कार की प्रतीक्षा में बैठे हैं, बिना यह देखे कि असलियत क्या है......आप से प्रार्थना है कि आप न ही उन्हें कुछ बतायें और......न ही फिर कभी इधर आयें।' उसकी आवाज़ का पुख्तापन पिघलता जा रहा था......'उसका यह वहम भी टूट गया तो वह जी कैसे सकेगा. अभी तो उसकी पहाड़ जितनी उम्र पड़ी है।' वह दूसरी ओर मुंह फेर कर सिसकने लगी।

कुछ देर और इंतज़ार करके मैं भारी दिल से बाहर चला आया।

वे बड़ी बेसब्री से मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे—'सब ठीक हो गया न ?' उन्होंने बड़ी व्यग्रता से पूछा।

'हां .....' मेरी उत्साहहीन आवाज़ पर उन्हें शक हुआ।

'कहीं आपने......' उनकी आंखें सिकुड़ीं।

'नहीं ....मैंने उन्हें कुछ नहीं बताया है।'

'कुछ पूछा था उसने......?'

'यही कि लड़का ठीक होगा कि नहीं !'

'तो आपने क्या कहा ?'

मुझे उनके प्रश्न उबाने लगे थे।

'वही जो आपने कहा था।'

'ठीक किया मैं उसे स्वयं ही बता दूंगा। पर अभी नहीं......... ......वह उसे बहुत चाहती है। उसका दुःख सह नहीं सकती......... ......पहले ही बहुत दुखी है. तीन बच्चे हुए, पर बचा यही एक...... और यह भी अपाहिज हो गया।' वे अपने दुख में आकंठ डूब गए, आंखें हाहाकार कर उठीं। पुनः-पुनः उन्हीं कही हुई बातों को दोहराने लगे। '.........वह बर्दाशत नहीं कर सकती.........बहुत दुखी है......'

मेरा मन हुआ मैं उन्हें भ्रांतियों के अंधेरे कोनों से घसीट कर असलीयत की रोशनी के दायरे में खड़ा कर दूं। पर क्या वह रोशनी की तपिश को सह सकेंगे ?



गली खामोश थी। पार्क सुनसान। ठक-ठक की आवाज़ को कम करने की कोशिश में मैं धीरे-धीरे चल रहा था। वे मुझे सड़क तक छोड़ने आये थे।

आदमी को क्या-क्या नहीं सहना पड़ता', बिना किसी संदर्भ के उन्होंने बात शुरू की। अब कोई पूछे आप के लिए ज़िंदगी का क्या अर्थ है, क्या परिभाषा है ?'

सोचा, कहूं— कुछ सूखी मछलियां, एक जोड़ी बैसाखियां और भीड़ में सबसे पीछे चलने की मजबूरी। भीड़ जो मुझे पीछे छोड़ कर चली गयी है। अब चाहे कितना भी ज़ोर क्यों न लगाऊं, अपने और उन

के बीच का फासला पार नहीं कर सकता। जैसे-तैसे अब एक निश्चित दूरी तय करनी है। मालूम है कि ईनाम लेने वाले सभी आगे भाग गये हैं, हमें कुछ भी मिलने को नहीं। लेकिन फिर भी घिसटना है। ज़िंदगी एक बोसीदा सफ़र है और उम्र एक अनंत क़ैद है।

'आप लड़के को धीरे-धीरे मानसिक तौर पर स्थिति की भयावहता सहने के लिए तैयार करें तो अच्छा होगा। आखिर उसे जीना है......'

उन्होंने जैसे मेरी बात सुनी ही नहीं। कुछ देर बाद आसमान की ओर आंखे गड़ाये बोले 'असल में उसकी विकलांगता का ज़िम्मेदार मैं हूं। मैं उसका मामूली सा ही इलाज करवा सका। और वह भी वक्त गुजर जाने पर......' उनका गला भर आया—अभावों और आर्थिक विपन्नता ने स्वयं मुझे अपाहिज बना दिया है। पिछले डेढ़ साल से बीमार हूं। लड़के को खाट पर पड़ा देखता हूं तो मन ही नहीं करता अपने लिए कुछ करने के लिए। उसके लिये 'व्हील चेयर' तक का इंतजाम नहीं हो सका......मकान-मालिक ने अलग मुकद्दमा ठोक रखा है।' उन्होंने एक ठंडी सांस छोड़ी, 'आपको बहुत तकलीफ दी आज, क्षमा करें। हो सके तो......' उन्होंने मेरा हाथ थाम लिया। मैंने हाथ दबाया, 'हां......हां, फिर भी आऊंगा।' मेरा उत्तर सुन कर उनका चेहरा उतर गया।

'अच्छा आप जाइए......' वे मुझे सड़क पर अकेला छोड़ कर गली में दाखिल हो गए। मैंने मुड़ कर देखा, वे गली के अंधेरे में घुल-मिल गए थे। दूर गली के आखरी मोड़ पर एक खुली खिड़की से आती रोशनी का टुकड़ा ज़मीन पर बिछा था। कुछ देर बाद वे रोशनी से गुज़रे। वैसे ही दुबले-पतले, वैसे ही लाचार।

पल भर बाद वे फिर अंधेरें में डूब गये। केवल एक आभास भर रह गया। रोशनी की तलाश में मेरी आंखें सड़क पर फैल गयीं। काफ़ी दूर सड़क के बीचों-बीच दो मद्धिम सी बत्तियां चमक रही थीं। पहले तो कुछ पता नहीं चला कि रोशनी का रुख किधर है! कुछ देर बाद गौर से देखने पर मालूम हुआ कि रोशनी मुझ से दूर होती जा रही है। मैं रोशनी से दूर होता जा रहा हूं।

ज्योतीश्वर पथिक

एक लम्बी यात्रा और मैं—

न जाने किस पल, किस मोड़ में, किस जगह...इस यात्रा का अंत हो जाए...फिर भी मैं अपने नाम को सार्थक बनाने के लिये चलता जा रहा हूं...मैं अपने मित्रों से प्रायः कहता हूं...जब तक पथ बाकी है, पथिक ज़िंदा है।

कभी कभी चौराहों और दोराहों पर मंज़िल का भ्रम होने लगता है मगर वहां पहुंच कर लगता है कि सफर अभी बाकी है।

यह अमिट प्यास ही मेरे लेखन की प्रेरणा है और बस...

बड़े शहर के लोग



दिल्ली परिवहन की डबल डेकर बसों पर बैठ कर अक्सर जब मैं आस पास की दृष्यावली देखा करता हूं तो नीचे चलने वाले इन्सान मुझे बौने लगा करते हैं। वैसे यह मानवीय प्रवृत्ति है कि जब वह बड़ा हो तो उसे दूसरा आदमी छोटा ही नहीं, तुच्छ महसूस होने लगता है। बस कार्नवालिस रोड से लोधी कालोनी पहुंचती है तो सवारियों की बाढ़ सी आ जाती है परन्तु उस रेले में से केवल कुछ ही सवारियों को बस मिल पाती है बाकी अगली बस की प्रतीक्षा में खड़ी रहती हैं। छोटी-छोटी सवारियों की इस कशमकश को मैं एक बिगड़े नवाब की तरह देखता हूं। इस शहर का हर व्यक्ति एक मशीन की तरह है, जो सुबह से शाम तक अपनी ज़िन्दगी पहियों पर गुज़ार देता है। कार्नवालिस रोड पर बैठने वाली कुछ सवारियां लोधी कालोनी उतर जाती हैं। बेचारा कण्डक्टर कुछ ही सवारियों से किराया वसूल कर पाता है। बाकी की सवारियां बिना किराया दिए खिसक जाती हैं। पांच नम्बर बस का कण्डक्टर चाचा बड़ी पैनी नज़र रखता है। जब कभी कोई सवारी बिना पैसे दिए भाग जाती है तो वह कह उठता है—'आप बिना पैसा दिए जा सकते हैं मगर चाचा की नज़रों को धोखा नहीं दे सकते। मैंने सारी ज़िन्दगी पहियों पर घूमते बिता दी है।"

कालेज के लड़के रेलवे क्रासिंग पर गाड़ी रोक लेते हैं. चाचा उन्हें मोटी गालियां देता है और लड़के -"चाचा हाय हाय" के नारों से उसकी गालियों का उत्तर देते हुए भाग खड़े होते हैं। चाचा गंदे-पीले दांतों को निकालकर खिसियाता हुआ कहता है—"और निकालो गालियां, और ज़ोर से लगाओ नारे! मेरे बच्चो! महान् नेताओं को भी गालियां खाने में लाज नहीं आती......।" चाचा का भाषण गाड़ी के स्टार्ट होने की आवाज़ सुनकर सहम जाता है और चाचा एक बार फिर से सवारियों से पैसे वसूलने का काम शुरू कर देता है।

सेवानगर का स्टाप आने वाला है। कण्डक्टर की सीटी बजने से पहले ही लोगों की हलचल बढ़ चली है। कण्डक्टर चाचा चलती बस से

उतरने का यत्न करती हुई एक बुढ़िया को रोक कर तुरन्त कह देता है—
''माई ठहर जा। अभी परलोक जाने में बहुत देर है।''

सेवा नगर की सड़कों पर गंदे बच्चों के हजूम नंग-धड़ंग घूमते हैं। ये काले-कलूटे राजकुमार प्रायः परिवार नियोजन के बड़े से बोर्ड पर पत्थर मार कर सारे प्रचार की कलई उघाड़ने की कोशिश करते हैं।

बस सेवा नगर से डिफेंस कालोनी की ओर मुड़ती है तो दृष्य बदल जाता है। संगमरमर के चिप्स से सजी ऊंची ऊंची कोठियां अपना वैभव बिखेरती हैं। लाल, पीले और हरे रंग के नियॉन लाइट्स मानव की प्रगति एवं नवीनता का संदेश देते हैं और यहां इस संदेश के चलते सेवानगर के मैले कुचैले बच्चों का दृश्य धुंधला बन कर रह जाता है। एक बार फिर बस-स्टाप पर खड़ी सवारियों का सैलाब बस को अपनी लपेट में लेने को बेचैन हो उठता है और सवारियों की धींगा-मुश्ती में कण्डक्टर पिस जाता है। मेरे साथ की सवारियां उठ कर चली जाती हैं और मैं एक सुन्दर से चेहरे को खोजता हुआ उसके लिए अपने साथ वाली आधी सीट खाली कर देता हूं। मुझे जिस चेहरे की तलाश थी वह चेहरा अपनी चिरपरिचित मुस्कान बिखेरता मेरे साथ की सीट पर आ बैठा है। यह लड़की रोज मेरे साथ बैठती है। डिफेंस कालोनी से ग्रेटर कैलाश तक केवल यही लड़की मेरा साथ देती है। यह लड़की वहां पर एक फ़र्म में टेलीफ़ोन ऑपरेटर है। अपने खूसट बास की रौबीली आवाज़ के अतिरिक्त असंख्य भेदभरी आवाजें रोज़ाना इसके कानों को सहला जाती हैं। मुझे महसूस होता है कि यह लड़की एक टेपरिकॉर्डर की तरह परिचित हंसी में एक से वाक्य बोलती है—' गुड आफ्टरनून'', ' स्पीक ऑन प्लीज़''. प्लीज़ होल्ड-ऑन'', ''ओवर टू डायरेक्टर'' या फिर ' देयर इज ए काल फ़ार यू, मदाम''......

कभी कभी मैं महसूस करता हूं कि यह लड़की कम्प्यूटर युग का जीता जागता परिचय प्रस्तुत करती है। यह लड़की जैट-एज का वह नमूना है जो अपने दुःख-दर्द को छुपा कर सभी के साथ एक से अपनत्व का बरताव करती है और मनचले नौजवान, खूसट क्लर्क, स्लिम क्लर्क, स्लिम टाइपिस्ट—सभी इस हंसी का अपने-अपने ढंग से अर्थ निकालने में व्यस्त रहते हैं। गाड़ी स्टाप पर रुकती है और कालेज के लड़कों का समूह बस को खाली कर देता है। ''पैसे तो देता जा साले''— कण्डक्टर चिल्ला कर कहता है। ''चाचा अभी माफ कर दे, शाम को दे

जाऊंगा", एक लड़के की आवाज़ चाचा की मूंछों से टकराती है। चाचा की गालियों के बांध में एक बार फिर दरार पड़ जाती है और गाड़ी पूर्ववत अपना सफ़र जारी रखती है।

बस की गति पर्याप्त धीमी हो चली है – लगभग रींगती सी। मेरी साइड की ओर सड़क पर चलती हुई कुछ अल्ट्रामाडर्न लड़कियां गाड़ी को हाथ देती हैं। गाड़ी में बैठे रोमियो अगला दरवाज़ा खोल देते हैं। लड़कियों के बैठते ही गाड़ी धीरे-धीरे फिर से गति पकड़ने लगती है।

मेरे साथ बैठी हुई टेलीफोन ऑपरेटर—प्रतिभा—अर्थपूर्ण दृष्टि से मुझे देखती है और मैं उसकी बात समझ जाता हूं। वह लिफ्ट मांगने वाली इन लड़कियों से घृणा करती है। "रईसज़ादियां फैशनेबल बनती हैं—न जाने इस लिफ्ट की इन्हें क्या कीमत चुकानी पड़ेगी। मगर इन्हें क्या......इनके लिए तो यह सब कुछ साधारण है, रुटीन है।"

गाड़ी चौराहे को पार करके रिंग रोड पर बढ़ने लगी है। मैं फिर प्रतिभा के बारे में सोचने लगा हूं। प्रतिभा का पति पिछले भारत-पाक युद्ध में स्यालकोट के मोर्चे पर अपनी टांग गंवा बैठा था। वह अब करोल बाग में सिग्रेट बेचता है। प्रतिभा कितनी अभिलाषाओं, कितनी कामनायों से लदी गांव से दिल्ली आई थी। उसे इस बड़े शहर के ऊंचे लम्बे भवनों में झांक कर देखने का चाव था, मगर हर बार उसका पति, सूबेदार प्रेमसिंह, कह दिया करता था— "ये सब भवन खोखले हैं प्रतिभा! इनकी चमक-दमक सब उधारू है।" कुछ वर्ष पहले तक उसे प्रेमसिंह की बात पर विश्वास न होता था मगर अब जबकि प्रेमसिंह एक अवकाश-प्राप्त पैन्शनर हो चुका है और घर की गाड़ी को ठेलने का दायित्व प्रतिभा को निभाना पड़ रहा है वह इन भवनों की वास्तविकता से परिचित हो चली है। प्रेमसिंह, बच्चे और प्रतिभा - सभी लोग मुंह अंधेरे ही अपनी-अपनी मंजिल की ओर चल पड़ते हैं और फिर इसके बाद शाम के मलगजी अंधेरे में चाय की टेबल पर ही मिल पाते हैं। प्रेमसिंह ने बहुत पहले सौ गज का एक प्लाट लेकर अपना घरौंदा तैयार कर लिया था अतः इस भीड़ में रहने की यातना उनके लिए अर्थहीन हो चुकी थी।

गाड़ी ग्रेटर कैलाश के स्टाप पर रुक जाती है। प्रतिभा उतर कर तेज़ी से अपने ऑफिस की ओर बढ़ जाती है। एक क्षण के लिए मेरे सोचने की प्रक्रिया थम जाती है परन्तु गाड़ी के चलते ही मैं एक बार पुनः अपने को प्रतिभा के विषय में सोचते रहने के लिए विवश अनुभव करने लगता हूं। सोच रहा हूं कि प्रतिभा के आफिस की सात मंजिला

इमारत में आने जाने वाली हर टेलीफोन काल कैसे प्रतिभा के सामने फैले पी० बी० एक्स० बोर्ड पर आकर रुक जाती है और किस प्रकार कभी-कभी प्रतिभा प्रतिशोध की भावना में भर कर स्विचबोर्ड ऑफ कर देती है।

"हैलो मिस्टर......" मिसेज सूदन का चिरपरिचित स्वर मेरे कानों में गूंजता है और मैं प्रतिभा के विषय में सोचना बन्द करके मिसेज सूदन की ओर उन्मुख हो जाता हूं। अभिवादन होने से पहले ही कण्डक्टर आकर पूछने लगता है—"टिकट सिंगल कि डबल......मैडम जल्दी बोलिए न!" "ले भड़ुए, जो काटना है काट ले", मिसेज सूदन रुपये का नोट बढ़ा देती है। "इस दल्ले को शरम भी नहीं आती" मिसेज सूदन अपनी स्थूलकाय देह को मटकाती है। मैं आंखों ही आंखों में उसके लहजे का विरोध करता हूं मगर मिसेज सूदन तुरन्त कह देती है—"मिस्टर! यह लोग सीधी-शराफत की बात नहीं समझ सकते—इनसे जुबान चला कर ही निपटा जा सकता है।"

मिसेज सूदन की जुबान कुछ क्षणों के लिए विश्राम करने को रुकी है और गाड़ी फिर आगे बढ़ चली है। मिसेज सूदन नर्सरी स्कूल में किंडरगार्टन की टीचर है। घर और स्कूल-दोनों जगह बच्चों से घिरा रहने के कारण इनकी बातों में चिड़चिड़ापन आ गया है। अपने पति मि० सूदन के किसी केस में सस्पैंड हो जाने पर मिसेज सूदन मैदान में आई और अब मिस्टर सूदन तो पत्र-पत्रिकाओं में छपे 'क्रॉसवर्ड' भरकर या फिर बाज़ार में बिकते लाटरी के टिकट खरीद कर अमीर बनने की धुन में हैं और मिसेज सूदन किसी प्रकार धर की गाड़ी चला सकने की चिन्ता में घुल रही हैं जोकि इस घुलने का उनके मोटापे पर मैंने कोई प्रभाव लक्षित नहीं किया है।

"कैलाश सिनेमा"—कण्डक्टर आवाज़ लगाता है।

मिसेज सूदन गाड़ी से उतरकर गली के नर्सरी स्कूल में चली जाती है। बहुत दिनों बाद आज फिर कॉमरेड वीरपाल इस बस में चढ़ आया है। परिणामस्वरूप गाड़ी एक अपरिचित शोर से सहम उठी है, कामरेड जोर-जोर से चिल्ला रहा है—"यह साले लाले हमारा खून निचोड़ कर रहेंगे। सब साले भ्रष्टाचारी हैं। सुबह से मेरे पांचों बेटे लाइन में बंधे खड़े हैं अब छटा नम्बर हासिल करने मेरी पत्नी भी क्यू में जुड़ गई है।"

मैं खिड़की से झांक कर सड़क पर रींगती हुई गाड़ियों को देखने लगता हूं परन्तु कामरेड की आवाज़ मेरे अनचाहे मेरे ऊपर से गुजरने के स्थान पर मुझे छूने लगती है। मैं बाध्य हो जाता हूं कि उसकी बातें सुनूं। कामरेड चिल्लाए जा रहा है—"फैमिली प्लानिंग का नारा लगाते हैं। मैं कहता हूं दो एक बच्चों वाले लोग भूखे मर जाएंगे। उनके घर में कभी पूरा खाना नहीं होगा। कभी चीनी के लिए क्यू, कभी डालडा के लिए। कभी एक क्यू, कभी दूसरी क्यू। कभी यहां लाईन कभी वहां लाईन। हमारी सारी जिन्दगी इन पंक्तियों की भेंट चढ़ जाती है। दूर क्यों जाते हो, इस बस में चढ़ने के लिए भी क्यू में खड़ा होना पड़ता है। इस पर आपको यह भी ज्ञात नहीं रहता कि यह डिक्टेटरवादी कण्डक्टर न जाने कब किस सवारी का नम्बर आते-आते गाड़ी की घंटी बजा देगा।

"पैसे निकाल बाबू लीडरी बस से बाहर दिखाना..." कण्डक्टर चाचा अपने उसी व्यंग्यपूर्ण लहजे में वीरपाल से सम्बोधित होता है और वीरपाल अपना पास निकाल कर चाचा को मुंह चिड़ा देता है।

बस चौराहे की लाल बत्ती के प्रति सम्मान प्रदर्शित करती कुछ क्षण खड़ी रहती है। हरी बत्ती का भी सम्मान होना चाहिए। अतः बस फिर चल पड़ती है। वीरपाल की रुकी हुई गाड़ी भी फिर से गति पकड़ने लगती है—"महंगाई भत्ता तो सरकार ने बढ़ा दिया पर इससे होगा क्या? कीमत तो बनिए ने पहले से ही बढ़ा रखी है। कहता है—इन्सपैक्टर को पूरे पांच सौ की घूस दी है, अब पन्द्रह सौ भी न बनाऊं...?" "महंगाई और घूस के दीमक हमारी ज़िन्दगी को चाट कर खोखला कर रहे हैं।" गाड़ी स्टॉप पर रुकती है और वीरपाल उतरकर चल देता है। मैं महंगाई, घूस और क्यू को भूल कर शॉपिंग सेंटर से निकलती हुई, [illegible]नी स्कर्टों में झूलती लड़कियों को देखने लगता हूं। ये लड़कियां इम्पोर्टेड माल और फैशन की होड़ में अधिक से अधिक दाम देने को तैयार हो जाती हैं। इनके लिए चीज़ कैसी भी हो उसके दाम अधिक होने चाहिएं। हर चीज़ का दाम बढ़ा-चढ़ा कर बताने में इन्हें गर्व महसूस होता है इनका अहं संतुष्ट होता है।

"बाबू, क्या देख रहे हो"—वह मेरी चोरी पकड़ लेता है।

'नहीं, कुछ नहीं......''—मेरे मन का कायर मुझे सच बोलने से रोकता है।

'इन तितलियों को मत देखो—बड़े घरों की यह रईसज़ादियां हमारे समाज को तबाह किए जा रही हैं। तुम जानते हो शॉपिंग के शौक में मेरी और तुम्हारी तनख्वाह ये लोग घंटे, दो घंटे में उड़ा देती हैं। इनके पास इतना पैसा कहां से आता है ?'' वह मेरी आंखों में तैरते प्रश्न चिन्ह को भांप लेता है—'चुप ! यह एक ट्रेड सीक्रेट है...!'' इतना कहने के साथ ही वह एक तितली के साथ खड़े हिप्पीकट भंवरे की ओर इशारा कर देता है।

गाड़ी का आखरी स्टाप आ जाता है; मैं उतर कर इस बड़े शहर के लोगों की भीड़ में शामिल हो जाता हूं जहां मिसेज सूदन, कामरेड वीरपाल, प्रतिभा और यह रंगीन तितलियां अपने-अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रही हैं। इन सभी का अपना-अपना दर्द है, अपनी-अपनी सलीब।

ओम गोस्वामी

'निर्वासित' का घटना-क्रम एक 'वीटो'-याफ्ता साम्राज्यवादी देश में 'श्वेत-अश्वेत' समस्या पर आधारित है। लेखकीय सम्बद्धता के स्तर पर इसमें प्रामाणिक अनुभूति का अभाव भले ही दीखे किन्तु आज 'मास मीडिया' के वृहद तन्त्र ने विश्व को एक संकुल समांतर गली बना दिया है—जहां इस घर की आवाज़ उसी वक्त दूसरे घर में पहुंच जाती है। सूचना की द्रुत यात्रा ने विश्व-मानस को रागात्मक सम्बद्धता में बांध दिया है। मानव में मानव होने की अनुभूति पहले इतनी तीव्र कभी न हुई थी। इस समझ ने व्यक्ति को तमाम क्षेत्रीय स्वार्थों, लघु हितों और संकीर्ण राष्ट्रीयताओं से ऊपर उठा कर सांझे विश्व मंच पर ला खड़ा किया है। बहुत से ऐसे प्रश्न हैं जो किसी एक जाति या देश को न होकर मानव-मात्र को ज्वलंत चुनौतियां हैं। मार्टिन लूथर किंग पर चली गोली ने कितनी छातियों को घायल किया होगा। अखबार के एक गैर जरूरी कालम में तीन लाइनों की सूचना मुझे कोसने लगती है। अमेरिकी नीग्रो की व्यथा हर तरह से मेरी पीड़ा बन जाती है। नीग्रो की तल्खी का अनुभूतिपरक सृजन विश्वमानस की इसी समझ से होता है। थोड़ी-सी भी दर्द देने वाली सूचना या अनुभूति मेरी नई कहानी का बीज-बिन्दु है। यहां मैं देखता हूं मेरी पूर्ण सृजन क्रिया 'रिसपांस टू द स्टिमली' चेतना पर आधृत है। लिखे जाने के बाद रचना मेरे लिये निजी दर्पण है-जिसमें अपने छाया अस्तित्व का प्रतिबिम्ब देखना अभीष्ट है। ये छाया-चित्र मेरे विचारों व अनुभूतियों के हैं।

सृजनात्मकता के शैली पक्ष को लेकर अन्त में इतना ही कि अनुभूति ी तीव्रता स्वयं अपने लिये भाषा तलाशती है, बिम्ब गढ़ती है और र देने की प्रणाली ढूंढती है।

मे लिये—'द ग्रेट आर्ट इज़ टू कनसील द आर्ट'...कोई मायने नहीं ना। यही कारण है कि मेरे संकेत या रूपक पाठक-लेखक के दरमिया करी मध्यस्थ उपग्रीवी की उपस्थिति स्वीकार नहीं करते।

निर्वासित

अब वैज्ञानिक उसे परीक्षण जन्तु के तौर पर अस्पताल में रखना चाहते थे। स्वस्थ समाज में सर्वत्र उसके लिए हिकारत थी और प्रयोगों की यांत्रिक शृंखला में पुर्जा होना उसे स्वीकार न था। इसीलिये पहरेदारों के जबड़े तोड़ कर वह रात के अंधेरे में अस्पताल की 'वान' लेकर भाग खड़ा हुआ था। पहले तो खूब खोजबीन हुई। अखबारों में गुमशुदा के विज्ञापन और विवरण छपे। अन्ततः हार कर रिसर्च-टीम के मुख्य वैज्ञानिक ने अपने बालों में हाथ की लम्बी अंगुलियां घुसेड़ते हुए कहा—'ऐसे लोग अक्सर खुदकुशी कर लेते हैं। उसका रोग तो भयकर सीमा तक बिगड़ चुका था। अच्छा होता अगर वह इन्सानियत की खातिर अपना-आप हमें सौंप देता।' टीम को जब अपने अधूरे शोध-पत्र दराज़ों में बंद करने पड़े तो उसने दोबारा कहा—'बेचारा श्वेतांग! मुझे सचमुच उसके लिये दुःख है।' सहायक वैज्ञानिक ने पूछा—'सर, क्या सचमुच हमदर्दी का स्वर है या नोबल पुरस्कार की सम्भावना धूमिल होने का दुःख।'

'ओह! पादरी के बेटे। कन्फेशनस लेना तुम्हें विरसे में मिला है। आई मीन इनहेरिटड वाया क्रोमोसोम्स।'

श्वेतांग विश्व के समृद्ध, विशाल, अपूर्व नगर से परे जंगल की ओर भाग रहा था। सभ्य समाज के बहिष्कार ने उसकी चिंतन-धारा को दूसरों के प्रति लापरवाह बना डाला था। 'टू डाई इन नेचर्ज़ लैप इज़ एन इटर्नल चार्म। डैम द टेस्ट-ट्यूब।'

जंगल के शुरू के हिस्से में उसे दो सुनसान झोंपड़ियों के बाहिर एक नीग्रो बैठा दिखाई दिया। उसे अपने स्वागत के लिये आगे बढ़ते देख कर श्वेतांग ने मुंह बिचका कर घृणावश मुंह में उतरे थूक को निगल लिया। नीग्रो को हैरानी हुई कि श्वेतांग भी उसी की तरह भयंकर रोग से ग्रस्त है। गोरे लोग क्योंकर इस में मुब्तिला हो सकते हैं। वे तो घुटनभरी गन्दी बस्तियों में नहीं रहते।

दोनों बस्ती से निर्वासित-से जंगल के इस सिरे पर आमने-सामने खड़े थे। तकलीफ का सांझापन अपरिचय के धुंधलके में पहचान की किरणें ढूंढ रहा था।

'मुझे मालूम था एक दिन यहां कोई मेरे जैसा जरूर आएगा। देखो दूसरी झोंपड़ी खाली है, उसमें तुम रह सकते हो।' उसने ठूंठ-सा हाथ उठा कर एक झोंपड़ी की ओर संकेत किया। श्वेतांग ने बेरुखी से दर्शित दिशा में देखा। उसे संकोच में जानकर नीग्रो बोला—'बूढ़ी आदिवासिन और उसकी बेटी के चले जाने के बाद से ये खाली पड़ी हैं। उनके मर्द दूसरे कबीले के साथ संघर्ष में मारे गए थे।'

'...मेरी बिरादरी वाले मुझे मार ही देना चाहते थे।' नीग्रो ने श्वेतांग की रुचि न जानकर प्रसंग बदला—बीमारी हम अपनी मर्जी से तो उठाते नहीं। इसमें हमारा क्या दोष? वे कहते थे औरों को रोग न हो जाये इसलिये इसे जहन्नुम भेज दो। बस्ती का दैत्याकार बकरी वाला तो सचमुच ही मुझे आग की भट्टी में झोंकने लगा था। खुदा का रहम कि उसकी मजबूत गिरिफ्त से समुद्री शैवाल की तरह फिसला और जान बचा कर भागा।'

'ओह! मुझ पर भी उस दोगले हरामी बटलर ने उबलता हुआ पानी फेंका था। कहने लगा तुम्हें हिम्मत कैसे हुई अन्दर आने की। मेरा पक्का मित्र था। वह अब रोग की वजह से मेरा चेहरा भी देखना न चाहता था।'

'रेवरेंड लोग, क्राइस्ट के उपदेशों की बौछार करते थे। सब मुल्लमा ही साबित हुआ।'

''डैम आल! सभी को होने दो यह रोग। फिर क्राइस्ट का उपदेश व्यावहारिक लगेगा।'

'दो रेड इन्डियन स्त्रियां—भगवान उनकी उम्र दराज करे—जैसे हम दोनों के लिये ही ये झोंपड़ियां छोड़ गयीं। पहले कुछ दिनों तक वे मेरे साथ रहीं—क्या नज़ारा था उन दिनों। अधूरा रुग्ण आदमी हमेशा पूर्ण मनुष्य की ख्वाहिश करता है। उन्होंने सम्पूर्णता की सुखद अनुभूति देकर मुझ में पहली दफा मानव होने की प्रतीति जाग्रत की। पर गलती से उन्हें अपने रोग की शिद्दत से परिचित करवा बैठा। डर कर दोनों घने जंगल के भीतर चली गईं।'

'तुम सूअर हो पूरे—'थिक सकल्ल', उन्हें जाने क्यों दिया। यहां रहतीं तो काम आतीं...समझे, गधे !' श्वेतांग की कनपटी पर नीली नस कांपने लगी थी।

'हम दोनों तिरस्कृत हैं। लैट अस बी फ्रेंडस।' काले ने प्रस्ताव रखा।

'ह्वाट ! से अगेन।'

'दे हैव निग्लैक्टिड अस। वी हैव ए कॉमन एनिमी। लैट अस अम्ब्रेस।'

'अफ्रीकी कुत्ते, काले चोर तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई ?' श्वेतांग ने ज़ोर से लात मार कर उसे ज़मीन पर बिछा दिया। यह उन का पहला परिचय था। सम्भवत: आखिरी भी। इसके बाद वे कभी न बोले। दोनों के हाथ पैरों की अंगुलियां भुरभुरे चाकू की तरह घिस चुकी थीं। नाक भी बैठी हुई थी। हर क्षण उनके शरीर से कीटाणुओं भरा मवाद रिस रहा था।

वेदना के अन्तर्सूत्र जो पीड़ितों को परस्पर जोड़े रहते हैं एक विशेष स्थिति आने पर बेकार पड़ जाते हैं। तब व्यक्ति आत्ममुखी होकर दूसरों के प्रति विषाक्त विचारों की खोह में विचरण करने लगता है। श्वेतांग ने अपनी झोंपड़ी के बाहर दीवार पर कोयले से विज्ञप्ति लिख दी—'जब सारी दुनियां कोढ़ियों से भर जायेगी तब गोरे कोढ़ी शासन करेंगे। गुलामों को गुलाम ही रहना होगा।'

नेचर-स्टडी' के लिये निकला कॉलिज के लड़कों का दल पीठों पर किटें लादे उधर से गुजर रहा था। दीवार पर अंकित विज्ञप्ति पढ़ कर वे रुक गये। बड़े दिनों बाद आदमियों की चहल-पहल देखकर नीग्रो और श्वेतांग दोनों की आंखों में धुंधलापन उतर आया।

'खैरात !' श्वेतांग ने हैट बढ़ाते हुए कहा। लड़कों ने दोनों को बराबर-बराबर डॉलर दिये। यह देख श्वेतांग चिल्ला पड़ा—'मैं गोरा हूं। क्या तुम्हें दिखाई नहीं देता ?' फिर वह नीग्रो पर अपने कुंद हाथों से घूंसे बरसाने लगा। काले का निचला होंठ चिर गया। उसने नज़रों से तिरेर कर मांगने के लिये उठाया लोहे का डिब्बा ही दे मारा। श्वेतांग के ताज़े घाव से रिसते लहू में उस का चेहरा लिथड़ गया।

'उसने मेरा खून निकाल दिया, देखा तुमने ? बढ़ो और तबाह कर दो काले हब्शी को ।' लड़कों को प्रतिक्रियाहीन देखकर श्वेतांग का आक्रोश और भी बढ़ गया । 'मैं तुम्हें देख लूंगा, नपुंसको ! गोरे का लहू बह रहा है और तुम मूक दर्शक बने खड़े हो ।'

लड़कों ने एक दूसरे को अर्थपूर्ण नज़रों से देखा ।

'इस रूप में आदमी की राष्ट्रीयता, जाति, रंग एवं नस्ल—सब बातें गौण हो जाती हैं । उसकी आकृति में आश्चर्यजनक साम्य आ जाता है । अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की बात कहने का वह सबसे ज्यादा हकदार है ।' लड़कों में से एक ने कहा ।

'डोंट टाक लाइक कम्यूनिस्टस ।' दूसरे ने कहा । और वे जंगल में चले गये ।

'देखो शैतानो, जंगल में एक बुढ़िया और उसकी बेटी मिलेगी, रेड इंडियन—उन्हें मेरे पास लेते आना । कहना गोरा तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है ।' श्वेतांग कुटिया में जा रहा था कि काले की झोंपड़ी पर नज़र अटक गयी । लिखा था --'आओ हम अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे की बात करें ।'

'सूअर !' श्वेतांग ने कहा और दीवार पर थूक दिया ।

अशोक जेरथ

1967 तक जो लिखा था वह बहुत कुछ बौद्धिक स्तर तक ही सीमित था। खुद महसूस करना और उसे शब्दों के घरौंदों में सजा कर पन्नों पर चित्रित करना ही वास्तव में लेखन है इसकी अनुभूति धीरे-धीरे होने लगी थी। बेकारी के एक आध वर्ष ने साहित्य कला को झिझोड़ कर रख दिया था। कुण्ठाओं के बोझे से दबा यह अपना अस्तित्व कभी-कभी अपना नहीं लगता था। इस काल की रचनाओं में मेरा 'स्व' बिखरा हुआ है ऐसा मैं महसूस करता हूं। अब तक मेरी कुछेक कहानियां तथा दूसरी रचनाएं राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं जिनमें से 'जाह्नवी' और 'बाल-भारती' पत्रिकाएं—मुख्य हैं।

जो मैं बनना नहीं चाहता था वही बन गया हूं, इसी बात का दर्द कभी-कभी अब भी सालता है। अब परिस्थितियों से समझौता करने की भीरूता भी कभी-कभी अपने में महसूसता हूं जिसे वर्षों तक नकारा था।

चार अप्रकाशित पुस्तकें प्रकाशन की सुविधा की प्रतीक्षा में पड़ी हैं—जाने कब इन्हें प्रकाशित कर पाऊंगा। एक पुस्तक दिल्ली के प्रकाशक के पास पड़ी है। जून में छपने की सम्भावना है।

कहानीकार तथा कवि के रूप में जाना जाता हूं। शोध प्रबन्ध लिखूंगा विशेषतया भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यिक समस्याओं के तुलनात्मक अध्ययन पर। कुछ एक लेख प्रकाशित भी हुए हैं—अंग्रेज़ी, बांगला तथा हिन्दी पत्रिकाओं में। अभी बहुत कुछ लिखने की तमन्ना है।

देवदार और देवदार



देवदार के वृक्षों के साथ उसका अस्तित्व कब से बन्धा है उसे कुछ ठीक से याद नहीं। कई वर्षों से उसने अपने आप को सेनिटोरियम की पारदर्शक दीवारों के अन्दर ही पाया है ; घुटता हुआ। जिसके उस पार बड़े-बड़े देवदार के वृक्ष बिल्कुल मौन कब से चुप्पी साधे खड़े हैं। उसने वृक्षों की चुप्पी को आत्मसात कर लिया है। वह अक्सर उन देवदार के वृक्षों को निहारा करता। चान्दनी रात में तो उसे लगता कि शीशे की पारदर्शक दीवार को लांघकर उस ओर चला जाए जहां वह हो और चान्दनी से नहाए देवदार। वह उन्हें अपने बाहुपाश में समा लेना चाहता पर उसकी यह इच्छा कभी पूरी न हो सकी।

"लीजिए दवाई पीजिए"। नर्स ने उसकी तन्द्रा को तोड़ा था।

उसने हाथ उठाकर, बिना उस ओर देखे, दवाई का कप थाम लिया था जो ऊपर से छलक आया था। दवाई को कंठ में उंड़ेल कर उसने कप उलटा कर तिपाई पर टिका दिया था जिसमें से तरल पदार्थ बह कर तिपाई के कपड़े को चीरता हुआ, त्रिप त्रिप करता, नीचे गिरने लगा था।

"डॉक्टर नहीं आई क्या ?" अपने में ही खोए हुए उसने प्रश्न किया था।

'आने ही वाली हैं।'

"हुं ! आने ही वाली हैं, " उसने दोहराया था। "अगर न भी आए तो क्या फर्क पड़ता है", उसका ठण्डा-सा स्वर उभरा।

नर्स चली गई थी और वह फिर देवदार-वृक्षों की सूनी खामोशी में उलझ गया था।

दूर देवदारों के बीच की एक पगडण्डी पर जो रेखा सी दीखती थी उस पर कोई छाया सी उभर रही थी।

उसने नि:श्वास लिया।

'उफ ! तुम यहां भी नहीं जीने दोगी......'

"तुम दूर बहुत दूर क्यों नहीं चली जातीं, यहां से दूर। यहां देवदार की ऊंचाइयां भी न दिखाई दें।" उसने देखा छाया उभरकर आकृति बन गई है और धीरे-धीरे स्पष्ट होनी शुरू हो गई है।

"अरे ! यह तो डॉक्टर है।' डॉक्टर किवाड़ खोलकर अन्दर आ गई थी। पल भर उसने अपने आप को ठहराया था और फिर बैग को एक ओर रख कर अंगीठी की ओर उन्मुख हो गई थी जिसमें चिन्गारियां ठन्डी पड़कर सो गई थीं। उसके शरीर में झुरझुरी सी आ गई मानो उसे अन्दर आने पर ही सर्दी का आभास हुआ हो ! उसने अपने शाल को ठीक तरह से लपेटा और अंगीठी के पास रखी कुछ लकड़ियों को उसमें डाल दिया। फिर पास में रखी सीख से चिन्गारियों को खाक की परतों से जुदा कर दिया था।

बाहर देवदार की शाखाएं धीरे-धीरे हिलने लगी थीं। हवा में तेज़ी बढ़ रही थी।

"डॉक्टर, आज वर्फ पड़ेगी क्या ?"

वह चौंक उठी थी। फिर उसकी उदास आंखों में झांकती हुई पल भर को खामोश खड़ी रही थी।

"कुछ कहा नहीं जा सकता।"

"देवदार तो हिल रहे हैं।" (मानो वर्फ पड़ने का प्रतीक हों)

"हां हवा में तेज़ी बढ़ रही है" उसने बाहर झांका।

"यह देवदार कब से खड़े हैं डॉक्टर ?"

वह सोचती रही कि क्या उत्तर दे।

"मैं जब से आया हूं इन्हें इसी प्रकार खामोश अपने में डूबा खड़े देखता रहा हूं। क्या यह थकते नहीं ?" उसने गहरा निःश्वास लेकर कहा जैसे वह उन्हें खड़ा देखते-देखते थक गया हो।

डॉक्टर ने उसे बड़ी बेबसी के साथ निहारा। उसकी आंखों में पीड़ा थी। कितने रोगी यहां पर आकर टूट जाते हैं। वर्फ हर बार पड़ती है, पिघल जाती है पर यह देवदार सदा खड़े रहते हैं। मौन, अविचल ! उसे हर रोज कितना झूठ बोलना पड़ता है। अगर इसकी कोई सजा है तो......वह आगे न सोच पाई।

"डॉक्टर !"

'हूं !'

"एक बात पूछूं सच बताओगी ?" उसने पहली बार डॉक्टर के चेहरे की ओर उन्मुख होकर सच बताओगी' पर जोर देकर पूछा मानो आज तक उसने कभी सच न बोला हो। उसकी आंखों में अभी भी संदेह की झलक थी।

क्या मैं सच बता पाऊंगी ? शायद नहीं, उसने सोचा था।

"क्या मैं ठीक हो जाऊंगा, क्या मेरे इस अस्तित्व में अभी भी कुछ बचा है जिसमें कोई आशा की किरण समाई हो।"......"अगर नहीं तो तुम लोग बताते क्यों नहीं ?" वह रैश हो गया था और उसे खांसी ने आ दबाया था। डॉक्टर ने उसे कन्धे से पकड़ कर सहारा दिया और फिर उसकी छाती को मला था। खांसी इतनी तेज़ थी कि उसकी आंखों में से आंसू टपक पड़े थे।

"माफ करना डॉक्टर मैं भावावेश में आ गया था लेकिन आप ही बताएं कि इस तरह घुट-घुट कर जीना भी क्या जीना है। जहां कोई चाह नहीं, टीस नहीं। जहां सब कुछ कहीं ठहर गया है। डॉक्टर, मैं कब से इस पारदर्शक लिफाफे में बन्द पड़ा हूं जिसके उस पार दृष्टि तो जाती है पर मानसिक अनुभूतियां इसी में घुट-घुट कर मर रही हैं। सब कुछ कहीं बिखर गया है। सब कुछ है..." उसे लगा कि वह कुछ गलत कह गया है। वह सिर नीचे कर एकदम मौन हो गया। डॉक्टर ने उसे निस्सहाय दृष्टि से देखा था और फिर सांत्वना के दो शब्द—

'जल्द ठीक हो जाओगे ! मर्द होकर घबराते हो।'

"मर्द !" इस शब्द का विश्लेषण वह आज तक न कर पाया था। और फिर इस का सम्बन्ध इस सन्दर्भ में कहां से आ गया। वह सोचता रहा था।

"डॉक्टर, क्या कभी कोई ऐसा मरीज भी आया है जो इस सेनिटोरियम की दीवार को तोड़ कर चला गया हो।" उसकी नज़रें अभी भी थकी-थकी, झुकी हुई थीं।

वह चुपचाप खड़ी रही थी। हवा का वेग और बढ़ चला था। उसने उसकी आंखों में देखने का प्रयास किया था जो अभी भी झुकी हुई थीं; फिर एक निश्वास — "अनेक......!"

'ओह !' वह मुस्कराया था, पीली, दर्द-भरी मुस्कान—जिसके पीछे शायद सब कुछ छिपा था—वह, उसका अस्तित्व और समय के ज़ख्म जिन्हें वह फिर नहीं भर पाया था।

वह उसकी मुस्कान की ताव न ला कर क्षण भर को सिहर उठी थी। फिर अपना स्टेथेस्कोप सम्भालती हुई उसका निरीक्षण करने लगी थी। वह खामोशी से निरीक्षण करवाता रहा। डॉक्टर ने चार्ट देखा और उस पर कुछ लिखकर फिर उसे उसी कील पर लटका दिया था।

वह आंखें बंद किए बिस्तर पर पीठ के बल लेट गया था। उसने अपने हाथ माथे पर रख लिए थे, जैसे किसी गहरे विचार में डूब गया हो। वह जानती थी कि हर बार निरीक्षण के बाद वह निढाल हो जाता है। उसे विश्वास ही नहीं होता कि कभी वह स्वस्थ होकर बाहर की दुनियां में भी जा पायेगा।

अनचाहे ही डॉक्टर के मनोमस्तिष्क पर उसका व्यवहार तथा चरित्र हावी हो गये थे। जिसे उसने रोज-मर्रा के जीवन में महसूस तक न किया था। सैकड़ों रोगी यहां पर आए हैं; पर वह सब से विचित्र है, बिल्कुल अकेला...और उस अकेलेपन में भी वह अपना पूरा संसार समाए है जिसकी भनक तक भी डॉक्टर तथा दूसरे रोगियों को न मिल सकी थी। उसके विगत इतिहास के बारे में कोई भी कुछ नहीं जानता और न ही वह किसी व्यक्तिगत चर्चा में पड़ता ही है। उसका केस स्टडी करने के लिए केस हिस्ट्री बनाने में डॉक्टर को एड़ी चोटी का जोर लगाना पड़ा था और जो तथ्य उसके सामने आए उससे उसे लगा था कि वह शारीरिक रोगी तो है ही पर उसे मानसिक रोग भी कीड़े की तरह खाए जा रहा है। अतः मानसिक तौर पर वह टूट चुका था। कभी-कभी अचेतन में ही उसे महसूस होता कि कहीं पर, किसी कोने में, उसकी अनुभूतियों के कुछ कण उसे छूते हुए कहीं निकल गए हैं। कहां ? वह कभी ट्रेस न कर पाई थी। वह अनचाहे ही उसके करीब आ गई थी।

''डॉक्टर जब बड़ी बर्फ पड़ती है तो जानवर उसके नीचे दब कर मर जाते हैं ?......डॉक्टर अगर बर्फ की रात कोई बाहर रह जाए तो ? ...तो क्या वह जीवित रह सकता है ?''

डॉक्टर को उसके प्रश्नों का उत्तर ढूंढना कठिन हो गया था। वह

ग्रपना स्टेथेस्कोप सम्भालकर किसी दूसरे रोगी के निरीक्षण हेतु ग्रागे बढ़ गई थी।

उस दिन पूरा चान्द निकला था। चान्दनी की पतली दूधिया चादर देवदार वृक्षों से होती हुई नीचे मैदान तक फैल गई थी। उसे उस दिन लग रहा था कि यह उसके लिए नवीन स्फूर्ति का दिन है जिसका इन्तजार वह काफी ग्ररसे से कर रहा था। वह उस सारे वातावरण में खो जाना चाहता था। वह चाहता था कि उसका सब कुछ पिघल कर रोशनी की किरणों में बदल जाए ग्रौर शीशे के उस ग्रोर जाकर समा जाए।

ग्रब देवदार थोड़े-थोड़े हिलने लगे थे। हवा में तेज़ी बहुत ज्यादा बढ़ चली थी। देखते-देखते वातावरण बदल गया था। ग्रौर फिर रुई के फाहे देवदारों के सिरों से होते हुए नीचे गिरने लगे थे। वे कहीं-कहीं वृक्षों की गहरी हरी फर पर भी बैठ जाते। लगातार बर्फ गिरती रही ग्रौर वह देखता रहा...देखता रहा जब तक बर्फ पड़ती रही।

धीरे-धीरे सब सामान्य हो गया था। फर्क केवल इतना-सा था कि ग्रब बर्फ के गद्दे पर चान्दनी की पतली चादर बिछ गई थी।

वह ग्रपना लोभ संवरण न कर सका।

'ये बर्फानी रातें ग्रौर चान्दनी...उफ्! बस ग्रौर कुछ नहीं।' उसे लगा कि पुराने बन्ध कहीं खुल गए हैं। वे सब ग्रनुभूतियां जो कभी यख हो गई थीं पिघलकर तरल बन गई हैं जो उसकी नस-नस में बट रही हैं। कोई उसे बरबस खींच रहा है। वह उठा; लेकिन वर्षों की कमज़ोरी... फिर प्रयास किया...एक ऐसी ललक थी जिसे कमज़ोरी तथा वर्षों के जख्म न रोक पाए।

सुबह डॉक्टर ने उसके कैबिन के किवाड़ खुले पाए थे। अंगीठी बुझकर ठन्डी हो चुकी थी ग्रौर उसका बिस्तर खाली था। वह एक दम चौंक उठी थी। उसे लगा सब ठन्डा हो गया है। उसकी रगों में बहता हुग्रा रक्त भी कहीं ठहर गया है जो बाद में धीरे-धीरे चलने लगा था।

सामान्य होकर उसने चौकीदार को बुलाया तो वह सहमता सा ग्रन्दर घुस ग्राया पर ठन्डी अंगीठी तथा खाली बिस्तर देखकर सब समझ गया—"सा'ब उन्होंने ही कहा था कि ग्राप एक बार फिर मुग्रायना

करने आएंगी, क्योंकि उनकी तबीयत कुछ ज्यादा खराब है। सा'ब मैंने अन्दर से ताला नहीं लगाया।"

उसे लगा कि कहीं अन्दर ही अन्दर उसका ज़ख्म बढ़ता जा रहा है। उसने अपने आपको एक कुर्सी पर ढकेल दिया था। वह निढाल हो गई थी।

वह किस लिए अब इस सेनिटोरियम में जीवित है। वह अब उस क्षण को, उस सम्बन्ध को पहचानने लगी थी जिसे उसने वर्षों तक नकारा था।

पारदर्शक दीवार के उस ओर देवदार शान्त से खड़े थे। कोई तूफान आकर गुज़र गया था। उसे लगा कि उस न टूटने वाली दीवार के चीथड़े कहीं बिखर गए हैं जिनमें से उसका अस्तित्व साफ झांक रहा है।

व्यंग्य के सहारे......

डॉ० संसार चन्द्र

मैंने यदा-कदा अपने परिवेश को विशेष सतर्कता, धैर्य एवं संयम से देखा है। सभी जानते हैं कि आजकल स्पष्टवादिता का मार्ग कण्टकाकीर्ण है सम्भवत: इसीलिये मेरे अवचेतन ने हास्य-व्यंग्य निबन्ध को चुपके से अपना अभिव्यक्ति-माध्यम बना लेने में ही अपनी कुशल समझी है। अपने चारों ओर मुझे जितनी असंबद्ध सच्चाइयां दिखाई दीं उन्हें शृंखलाबद्ध करने के लिये सब से अधिक अनौपचारिक विधा जो मेरे हाथ लगी वह निबन्ध ही थी और वह भी हास्य व्यंग्य निबन्ध। गम्भीरता से तो मुझे एक शाश्वत चिढ़-सी है और मेरे सभी दोस्त-दुश्मन निश्चय ही इस सम्बन्ध में एक मत होंगे कि मैं एक निहायत ही अनौपचारिक व्यक्तित्व वाला इन्सान हूं।

गम्भीर-लेखन की कठिनाइयों से मैं पूरी तरह वाकिफ हूं। एक गम्भीर लेखक के लिये एक गहरे दिमाग और लक्कड़-हज्म-पत्थर-हज्म मार्का हाज्में की जरूरत होती है। दिमाग की गम्भीरता तो शायद पाकिस्तान से भागते वक्त किसी राहे-गुजर में ही लुट गई थी और मेरा कमजोर हाज्मा यहां की सेहत अफ्ज़ा खुराक की ताब न लाकर फेल हो गया था। इस प्रकार की साधनहीनता एक लेखक के लिये जो-जो साज़ो सामान जुटा पाती है उससे मैं पूरी तरह से लैस हो गया हूं। ऐसी स्थिति में मैदान में सीधे कूद पड़ने के लिये गज भर का कलेजा चाहिये परन्तु विस्थापन के फलस्वरूप कलेजे का तो पहले ही बुरा हाल है। वह कदापि चोट करने की स्थिति में नहीं आ सकता बल्कि अपने मुंडे सिर को ओलों की मार से बचाने की ताक में लगा रहता है। फलस्वरूप आज के लेखक के पास केवल एक ही उपाय बच रहता है कि वह इन विकराल शक्ति-सम्पन्न काले सायों को दूर से फुलझड़ी दिखा कर किसी कोने में दुबक कर बैठ जाये और तमाशा देखता रहे।

यह नई कविता है

नई कविता तो दूर, कविता की किसी भी वैराइटी से मेरा कोई सरोकार नहीं। वैसे जहां तक नवीनता का सम्बन्ध है. मुझे हर नई चीज़ पसन्द है। बूट से लेकर सूट तक, करेंसी नोटों से लेकर नोट बुक तक। गर्ज़ कि मैं हर नई चीज़ का दिलदादा हूं. मगर यह नुक्ता हल नहीं होता कि आखिर मैं इस नई कविता के इश्क से ही क्यों महरूम रहा हूं। यूं तो मेरी मां प्राय: बताया करती हैं कि बचपन में मुझे कविता का बेहद शौक था। मेरे पिता जी को मुझ में एक अच्छे खासे शायर के आसार नज़र आते थे। इस सम्भावना मात्र ही से उन्हें भारी राहत नसीब होती थी क्योंकि वे खुद भी दर्जा अव्वल के शायर थे, जिन्होंने बड़े-बड़े दंगल जीते थे, जमें हुए उस्तादों को चारों शाने चित्त किया था। बंदिश में उनका सानी ढूंढना कठिन था। रदीफ और काफ़िया इस महारत से तराशते थे कि सुनने वाले दांतों तले ज़बान या अंगुली काट खाते थे। यह बात अलग थी कि लोग अपनी ज़बान या अंगुली की सलामती चाहते हुए उनकी नज्में सुनने से प्राय: कतराया करते थे। खैर किस्सा मुख्तसर यह है कि मैं एक ऐसे कविकुल का राजकुमार हूं जो अपनी खानदानी रवायतों के शिवधनुष को कब का छिन्न-भिन्न कर चुका है। अब तो उसकी स्मृति मात्र ही शेष रह गई है।

अभी हाल ही की बात है। मैं बैठा स्थानीय संडे का संस्करण उलट-पलट रहा था कि अपने छोटे बरखुरदार की एक सचित्र और सवक्तव्य कविता पर आंख गड़ी की गड़ी रह गई। मैंने अन्दर आवाज लगाई कि 'सुनती हो', तो बरखुरदार की मां के बजाये मेरी मां पहुंच गई और माजरा सुनकर गदगद हो कहने लगीं—"भगवान का शुक्र है कि इस दैत्यवंश में एक प्रह्लाद तो आया है। आज इस के दादा होते तो फूले न समाते।" मैंने कहा—"अम्मा! वे होते तो इस ना-अहल की हड्डी पसली एक कर देते।" इतने में हमारा फरज़न्द भी आ पहुंचा। उसके हाथ में वही संडे संस्करण था। मेरा रुख देखकर वह सहम गया। मैंने पूछा कि यह सब क्या है?" बोला—"डैडी! यह नई क़विता है।"

मुझे ज़ोर का धक्का लगा, काटो तो खून नहीं। कविता का न सिर न पैर, न तुक न ताल, न छन्द न बन्ध, न लय न स्वर, न यति न गति। मैंने फिर पूछा—"बेटे यह कैसी नई कविता है ?" वह बोला—'डैडी यह विद्रोह की कविता है...विद्रोह—सबसे विद्रोह – कविता के लिबास से, उसकी पुरानी रूह से विद्रोह, उसके ड्राफ्ट और टैक्नीक से विद्रोह, उसकी फार्म और स्टाइल से विद्रोह।" मैंने टोका कम्बख्त धीरे बोल ! कहीं पोलीस ने सुन लिया तो वामपंथियों के साथ धर लिये जाओगे। वह हंस कर बोला—"डैडी ! यह अनास्था का युग है यानि कि टोटल डिसबिलीफ़ का, नानफेथ का। अनास्था पास्ट से, फ्यूचर से, सिर्फ प्रैसेन्ट को, वर्तमान को जीना—उसके हर मिनट और लम्हे को जीना। मैंने खीझकर कहा –"तो यहां क्यों वक्त बरबाद करता है ? जा आराम से जी और मुझे भी जीने दे।" मां बोली—"फोटो तो सुन्दर है लेकिन क्या लिखा है ?" इस पर अपने चन्द-चिराग ने कुछ पंक्तियां पढ़ सुनाईं। मां की समझ तो दूर, मेरा भेजा भी कोई मतलब न पकड़ सका। कविता इस प्रकार थी :—

मैं भुजी मूंगफली का छिलका,
जो गिरा है इधर-उधर
बस में, ट्रामों में
सिनेमा में, प्लेटफार्म पर
खण्ड-खण्ड हो बिखरा है
वह कल को
पिसकर किसी मसाले में
फिर पेट तुम्हारा छेदेगा
इसलिए लाज़िम है,
ओ खाने वालो—
मुझको यूं मत फैंको
मुझे भी निगल जाओ
मैंने निश्चय ही तुम्हारे पेट में जाना है
वही मेरा गन्तव्य है
नियति है।

मैं अपने नगर की पब्लिक कालेज-प्रबन्धक कमेटी का मैंबर

हूं । उस दिन इन्टरव्यू कमेटी में मेरा जाना इसलिये भी ज़रूरी हो गया कि मुन्ने की मां का भतीजा भी नौकरी का उम्मीदवार था। इण्टरव्यू में उससे अनेक सवाल पूछे गये । अन्त में मैं भी पूछ बैठा—"तुम्हारी विशेष हॉबी क्या है ?" वह बोला – "नई कविता है।" एक मैम्बर चौंक उठे । वह खुद भी शायर रह चुके थे, बोले—'नई कविता से मुराद ?' जवाब मिला—'आत्म ईमानदारी का संकल्प।' एक मैम्बर संकल्प का अर्थ तिलांजलि समझ कर खीझ उठे कि -'ऐसे गैर ईमानदार आदमी के लिए इस कालेज में कोई जगह नहीं ।' कैन्डीडेट ने बात बाज़या की कि —"हमारा तो नारा ईमानदारी है, हमारी कविता भी ईमानदारी की है । यही इसकी मूल खासियत है । इस पर मीटिंग में बैठे शायर तिलमिला उठे—'यानि कि पुरानी कविता बेईमानी की कविता है ।' मैं बीवी का ख्याल करता हुआ बीच बचाव की गर्ज़ से बोल उठा—'खैर ! कविता कोई भी हो, नई या पुरानी, कविता फिर भी कविता ही है। हां इसकी कविता कैसी है, इसका नमूना देख लेना चाहिए। इस पर कविता पढ़ कर सुनाई गई :—

एटम बम की ठाह
ठाह ठह ठाह ठह ठाह
सबसे बड़ी विरही की आह !

उसकी इस रैपिड फायरिंग से हमारे कानों के राडार-सैंट तनतना उठे। मैं अपनी हिमाकत पर शर्मिदा हो रहा था । वह अभी और सुनाने पर आमादा नज़र आता था कि मुझे लाचार होकर कहना पड़ा—"इस महाकाव्य को..." मेरी बात अभी बीच में ही थी कि वह बोल उठा—'हम नये कवि महाकाव्य नहीं लिखते। उसमें हमारी आस्था नहीं। वह तो जीवन की अर्थी है, लाश ढोने का चौखटा है । न हम गीत लिखते हैं न महाकाव्य । हम लिखते हैं नई कविता जो इन सबसे आगे का कदम है..." इसके पहले कि वह कुछ और बयान देता, उसे खोटे पैसे की तरह वापस भेज दिया गया । मेरे घर पहुंचने से पहले ही वह वहां मौजूद था, बोला—"अंकल इन्टरव्यू का कोई गम नहीं। हां मेरा यह नया प्रकाशन भेंट-रूप में रख लीजिए। एक प्रति मुन्ने के लिये भी है।" मुझे इस इन्फिल्ट्रेटर पर गुस्सा आ रहा था जो मेरे ही घर में जहाद का प्रचार करने पर तुला था। मगर उसे क्या दोष देता । अपने अज़ीज़ की

शोहरत नये कवि के रूप में फैल चुकी थी। नई कविता की बहुत सी पत्रिकाएं इसे आती थीं जिनमें उसकी कविताएं अक्सर छपती थीं—मगर पैसे देकर। एक बार मैंने ज़रा आपत्ति की तो वह बोला—"यह सब हमारा सहकारी प्रयास है।" सहकारी खेती, सहकारी बिज़नेस तो सुना था मगर यह नई सहकारिता मेरे लिये हैरानी का बायस बन रही थी।

पिछले दिनों एक कवि-सम्मेलन में मुझे मजबूरन जाना पड़ा। एक तो हमारा बेटा उसमें हिस्सा ले रहा था दूसरे उसकी मां और दादी का भी इसरार था। उनका विचार था कि खुदा-खुदा करके अपने खानदान में कोई कवि पैदा हुआ – भले ही कैसा है—पुराना या नया। दादी को तो हमारे बरखुरदार ने इतना मुत्तासिर कर लिया था कि उस का अकीदा बन चुका था कि अगर आज उसके दादा जी ज़िन्दा होते तो वे भी नई कविता ही लिखते। खैर! मैं सम्मेलन में गया जहां चन्द छोकरे जमा थे, जो रत्न-भूषण की परीक्षा में छन्द के पेपर में कई बार फेल हो चुके थे। मुझे देखकर वे सम्मान के लिये नहीं उठे। उनके एक सरकर्दा मैम्बर ने बताया कि उनके कवि-सम्मेलन के दस्तूर के मुताबिक़ वहां से केवल श्रोता ही उठते हैं। अतः बैठे-बैठे ही अभिवादन हुआ। सर्वप्रथम एक कवि मुखातिब हुए— हमें श्रोताओं की कम हाज़िरी से मायूस नहीं होना चाहिए क्योंकि हमारी कविता कोमिटिड-प्रतिबद्ध—नहीं और हमारी कविता न ही अड्रैस्ड है—सम्बोधित है। इस लिये इस अल्प हाज़िरी को श्रोता-संकट तसव्वुर न किया जाए। श्रोताओं को हमें दाद नहीं देनी चाहिए। उनसे प्रार्थना है कि वे इस हरकत से बाज़ रहें। ऐसे नान-कमिटेड, नान-अड्रैस्ड ओपनिंग की हम श्रोता ताव न ला सके और सभी को एक साथ वाक आउट करना पड़ा। अपनी इज्जत को महफ़ूज़ करने के लिये यह माइल्ड प्रोटैस्ट लाज़मी हो गया था।

हमारे पड़ोस में एक नये किरायेदार आये हैं। पति-पत्नी दोनों ही कविता का शौक रखते हैं। अपना लाडला उन से काफ़ी घुल-मिल गया है और उनके हां बड़ा ही होमली महसूस करता है। पिछले संडे इस, कप्पल को उसने अपने घर में आमंत्रित किया था। जलपान के बाद गोष्ठी का कार्यक्रम था। शिष्टतावश हमें सपरिवार उसमें भाग लेना पड़ा। गोष्ठी का श्रीगणेश मुन्ने की नई कविता से हुआ जिस पर वे मियां-बीवी सिर हिलाते रहे। कविता का असर मुन्ने की मां और दादी पर भी खूब

शिद्दत से हुआ। वह बोल रहा था—

रावण के दस सिरों पर लगे
गधे के सिर का
मैं कटा हुआ धड़ हूं
ओ पुराण लेखको
बेईमानो
रावण तो शक्तिशाली था
उसने अंगुली पर कैलाश उठाया था
मुझे जीवित ही
सारे के सारे सिंगल पीस को
उसके सर पर क्यों नहीं बिठा दिया
रावण को उससे कभी एतराज़ न होता
क्या मैं सारे का सारा
उसकी मूर्खता से भारी पड़ता ?

आमन्त्रित कप्पल हमारे मुन्ने के इतिहास-बोध से दंग हो रहे थे। उसकी पौराणिक व्यंजनाएं मारकखेज़ थीं। अब कप्पल की बारी थी। पहले पति महोदय ने कविता पढ़ी—

मैं सन्ततिनिरोध का नुस्खा हूं
भले ही आज़माओ या न आज़माओ
जो होना है सो होगा
होनी को किस ने रोका है ?

मैंने बीच में टोकने की गुस्ताखी की तो वे बोले—"हमारी नई-नई शादी हुई है। मैंने अपने क्षण-विशेष की अनुभूति को ऐसे बिम्बों में बांधा है—ऐसे अप्रस्तुतों में प्रस्तुत किया है जो एक दम अछूते हैं जिन्हें मैंने भोगा है और जिया है और यही आधुनिकता है—वर्तमान का स्थिति-बोध है।" मुन्ने ने कहर भरी नज़रों से मेरी ओर देखा। मेरी नोंक-झोंक को वह अपने मेहमानों की इन्सल्ट समझ रहा था। लाचार मैं चुप हो गया। अब पत्नी की बारी थी, वह बोली—"एक नया प्रयोग है।" हमारे कान खड़े हो गये। कविता कुछ ऐसी थी —

कई बार
निटिंग करते हुए मैंने—
सोचा है कि यह धागा
जिसे मैं अंगुली पर लपेटती हूं—क्या है
यह सलाई
जिससे बुनती हूं
आखिर क्या है
स्थितियां दो हैं—सवाल दो हैं
उत्तर एक है
वह है—मेरे 'पति'
जो मेरी अंगुली पर नाचते हैं
जिन्हें सलाई की तरह मैंने सीधा कर रखा है।

यह सुनकर उनके सीधे-सादे पति ज़रा और सीधे हो कर बैठ गये। कविता के बाद वे बोलीं— यह एक नया एक्सपेरीमैंट है जो चिरन्तन और सनातन रहेगा क्योंकि प्रत्येक युग में पत्नी अपने पति को अंगुलियों पर नचायेगी और तकली की तरह सीधा भी करेगी। मुन्ने की मां पर इस व्याख्या का गहरा प्रभाव पड़ा। वह पूछ बैठी— बहन, स्वैटर तो मैंने भी बहुत बुने हैं मगर ऐसा ज्ञान कभी नहीं सूझा।" वे बोलीं— "कबीर को भी ज्ञान की बात खड्डी पर ही सूझी थी—मगर वह पुरानी कविता की बात थी। नई कविता का आत्म-बोध निटिंग की सलाइयों पर ही सम्भव है।" मैं जल्दी में था, उठ आया। पता नहीं वह बैठक कब तक जमी रही।

आज सुबह ही एक हंगामा हो गया। मेरे एक मित्र मुन्ने से पूछ बैठे कि क्या करते हो आजकल। मेरे मुंह से निकल गया— नई कविता'। मेरे इस कमेन्ट पर उसकी पेशानी पर बल पड़ गये, बोला—"डैडी, मैंने नई कविता कब की छोड़ दी है। वह पुराने युग की बात हो गई है।" मैंने सुख की सांस ली कि चलो पिंड छूटा, मगर साथ ही उसने मेरी नालिज में इज़ाफा करते हुए कहा—' मैं अब अकविता करता हूं।" मैं समझ न सका कि बेटा अब किस नई मर्ज में मुब्तिला हो गया है। उसने बताया कि अकविता नई कविता के आगे का चरण है, जिसमें सम्भावनाओं

की नई जमीन को खोदा गया है। मैंने कहा - "नामुराद ! गनीमत है कि पहले वाली पहाड़ की खुदाई में कम से कम एक चुहिया तो निकल आई थी मगर इस नई खुदाई में इसकी भी उम्मीद नजर नहीं आती।"

अभी बैठे-बैठे अपने अज़ीज़ के नाम आकाशवाणी से एक पत्र आया है। अज़ीज़ ने बताया है कि कविता-पाठ का कन्ट्रैक्ट है परन्तु वह इसे स्वीकार करने की बजाय संशोधन के लिये लौटा रहा है कि कविता पाठ के स्थान पर अकविता-पाठ होना चाहिए तभी वह इसे स्वीकार कर सकेगा। उसने बाहर कोठी के माथे पर खुदे अपने दादा के नाम के नीचे अपना नाम इस प्रकार लिखवा लिया है :—

दादा का नाम	**भोला नाथ**	**कवीशर**
मुन्ने का नाम	**मन्मथ राय**	**अकवि**

मुन्ने की दादी खुश है कि वंश परम्परा आगे बढ़ी है मगर कभी-कभी उदास हो जाती है कि मेरा नाम बीच में से गायब है। मैं पहले अपने आप को कवि वंश में अकवि मानता था मगर जब से मुन्ने ने अपने आप को अकवि घोषित किया है तो मैं सोचता हूं कि मैं क्या हूं ? कवि था नहीं. अकवि हूं नहीं। मैंने यह समस्या मुन्ने के आगे रखी है। वह इस नई स्थिति पर शीघ्र ही प्रयोग करने वाला है।

डॉ० वेद कुमारी

1942 के आस-पास मैं सुनाने के लिए कविताएं लिखती थी, अस्पष्ट शब्दों के माध्यम से अन्तर में छिपी क्रान्ति को स्फुटता प्रदान करने के लिए। लिखना, सुनाना और फाड़ फेंकना यही रचना का आदि और अन्त होता था।

समय बीतता गया और बचपन के क्षण अतीत के अंक में विलीन होते गये। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ जुड़ी विभाजन की दुःखद घटनाओं ने तथा गांधी जी की मृत्यु ने क्रान्ति के स्थान पर वेदना को जन्म दिया। नैराश्य और आत्मविश्वास के बीच झूलते यौवन में कई कविताएं लिखीं परन्तु अब सुनाने के लिए नहीं अपितु मन के भार को हलका करने के लिए ही पन्ने रंगती थी। कभी-कभी बिना लिखे सोना असम्भव हो जाता था। उस समय की कविताओं में मन का अन्तर्द्वन्द्व अभिव्यक्त हुआ है।

1958 के पश्चात् मैंने गद्य में लिखना प्रारम्भ किया। अध्ययन, अध्यापन, पर्यटन आदि के अनुभव ही मेरे लेखों के प्रेरणास्रोत हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्ययन में रुचि होने के कारण निबन्धों के विषय प्राय. सांस्कृतिक होते हैं। किसी प्राचीन ग्रन्थ के पन्ने पलटते हुए जब कभी हृदय और मस्तिष्क को झकझोर देने वाला प्रसंग आ जाता है तो तत्प्रेरित विचार अंकित करने को विवश हो जाती हूं। अवसर मिलने पर इन्हीं पत्रांकित विचारों को निबन्धों का रूप दे देती हूं।

गृहिणी की रोज रोज की मुसीबत



"अरे रे रे एक कप चाय में दो चम्मच दूध डाल दिया। सारा मजा किरकिरा हो गया भाभी।"

"अच्छा, बदल देती हूं", बेचारी गृहिणी ने कहा। अभी-अभी छोटे-छोटे बच्चों के चोंचलों से तंग आकर उन्हें खेलने भेज कर अपने अभी के आये अतिथि को बड़े शौक से चाय पिलाने बैठी ही थी। वह उठ कर दूसरा प्याला लेने रसोई घर में चली गयी। अभी वह प्याला ले कर आई ही थी कि मेहमान साहब बोले "भाभी बुरा न मानना मैं कुछ विशेष रुचि का आदमी हूं। मुझे लगता है कि चाय ठंडी हो गई है। जरा पानी भी बदल लो तो अच्छा रहे और हां अगर प्यालों को गर्म पानी में धो लिया जाए तो फिर उस में चाय ठंडी नहीं होती।"

गृहिणी ने कृत्रिम मुस्कान से मन की झुंझलाहट को छिपाते हुए कहा—"कोई बात नहीं विनोद भाई। मैं अभी पानी बदल कर ले आती हूं। तुम्हारे भाई साहब अधिक गरम चाय नहीं पीते. और आजकल तो पी ही नहीं रहे. इसीलिए ध्यान नहीं रहा। अभी पांच मिनट में आई मैं।"

इतना कह कर बेचारी गृहिणी रसोई घर में पहुंची। मन ही मन सोच रही थी कि खाना बनाने के बाद आज दिन भर कपड़े धो-धो कर थकी हूं। कल के लिए कपड़े प्रैस भी करने हैं। पति महाशय देवर महाराज और लाडले बच्चों के चोंचले मनाते तो जान आधी हुई पड़ी है, अब यह उनके मुंह लगे मित्र महाशय उनसे भी तेज निकले हैं। अभी पता नहीं क्या-क्या नखरे करेंगे? सुबह आफिस जाते-जाते वह कह गए थे कि मैं जल्दी आ गया तो ठीक अन्यथा विनोद को चाय अच्छी तरह पिला देना। लगी तो हूं ही। प्यालों को गर्म पानी से धोकर केतली में चाय का पानी बदल कर गृहिणी शंकित हृदय से मेज़ पर पहुंची। चीनी डालने से पूर्व उसने पूछा—

"कितनी चीनी लेते हैं ?"

"लेने की क्या पूछती हो भाभी । जगह-जगह का फर्क होता है । अपने घर में तो कप में आधा चमच चीनी से काम चल जाता है । मित्रों के घर में एक चमच, ससुराल में दो चमच और होटल में तीन चमच चीनी डालने से कप की चाय मीठी होती है । अब तुम्हारा मन है जितनी चाहो डाल दो । हां मीठा ठीक होना चाहिए, न कम न ज्यादा ।"

"विनोद भाई इसी तरह विनोद में ही लगे रहे तो चाय फिर ठंडी हो जाएगी और मुझे फिर रसोई घर का चक्कर काटना पड़ेगा । अच्छा तो मैं आधा चमचा ही डाल देती हूं । भाई-भाभी का घर भी तो अपना ही होता है ना ।"

तब तक सामने की प्लेट में सजे गोभी, आलू और पनीर के पकौड़े कुछ कुछ गर्मी खो चुके थे । मेहमान ने एक उठाया और कहा "भाभी कष्ट देने को विवश हूं, क्या पकौड़े फिर गर्म हो सकेंगे ?"

"क्यों नहीं, पर चाय तो फिर ठंडी हो जायेगी ।"

'अच्छा चलने दो इसी तरह ।"

किसी तरह मेहमान ने दो कप चाय पी और यह कहते हुए छुट्टी ली—'अच्छा, भैया को नमस्ते कह देना । मैं कल नहीं तो परसों सन्ध्या को अवश्य आऊंगा । चाय यहीं पी लूंगा ।" गृहिणी ने चैन की सांस ली । अभी मुश्किल से दो मिनट ही बीते होंगे कि मुन्ना बाहर से किलकारियां मारता हुआ आया ।

"मां ! सुधीर और रजनी अपने मम्मी-पापा के साथ नुमायश देखने जा रहे हैं । चलो न तुम भी ।"

थकी गृहिणी ने मुन्ने को पुचकारते हुए कहा "बेटा हम अवश्य चलते पर तुम्हारे पिता जी तो अभी आफिस से आए नहीं । थोड़ी देर में आयेंगे तो थोड़ा आराम करेंगे फिर कुछ खायेंगे, पियेंगे । तब तक तुम्हारे चाचा भी कालिज से खेलकर लौट आएंगे । सिर्फ एक कप दूध पी कर गये हैं । पकौड़े तो खाते नहीं । उन के लिए कुछ मीठा बनाऊंगी ।

सुनो, कल रविवार है ना । जल्दी से काम निपटा कर कल चलेंगे, तुम्हें भी छुट्टी रहेगी और तुम्हारे पापा और चाचा को भी ।"

हठीला मुन्ना मानने में कहां आता ? उसकी अच्छी खासी दलील थी कि पिता जी आफिस में बैठे ही रहते हैं, दौड़ते थोड़े हैं जो थके होंगे और बहुत होगा तो उन्हें भी झूलने वाले झूले में थोड़ी देर बिठला दिया जायेगा, सब थकावट दूर हो जायेगी। आफिस से आने पर वे तैयार तो रहेंगे ही, झट से चल पड़ेंगे। चाचा जी के लिए बाजार से मीठी टिकियां लेते आयेंगे।

"धत्त तेरे की चाचा भी क्या मुन्नी जितने हैं जो मीठी टिकियों से सन्तुष्ट हो जायेंगे।" बड़ी कठिनाई से गृहिणी ने मुन्ने को मनाया और नुमायश की यात्रा कल तक के लिए टाल कर रसोई में पहुंची।

अभी दूध से मलाई निकाली ही थी कि कमरे से आवाज़ आई 'सुनती हो जी, जरा हाथ मुंह धोने के लिए पानी दे जाना।"

"क्या नल में पानी नहीं आ रहा ?"

'आ रहा है पर कौन जाए गुसलखाने में ? सोचता हूं यहीं धो लूं। हां देखो आज पानी बरसने से जरा ठंडक हो गई है, पानी ठंडा होगा। गर्म कर लेना।"

"अच्छा ले आती हूं," गृहिणी ने गर्म पानी लिया और सेवा में पहुची।

"लीजिए यह रहा गर्म पानी। जाऊं अब दूध गर्म कर लाऊं।"

"नहीं, नहीं, रुको रानी। थोड़ी थकान तो तुम्हारे पास खड़े होने से ही दूर हो जाती है। तुम पानी डालती जाना और मैं हाथ मुंह धो लूंगा। ठहरो जरा कपड़े तो बदल लूं। अरे जरा इस कमीज में बटन तो लगा दो। रानी। घर पहनने के कपड़ों पर भी जरा आयरन कर दिया करो तो कैसा रहे : देखो इस पैंट की क्रीज अपने हाल पर रो रही है। क्या जल्दी-जल्दी बटन जड़ दिया था ? खैर कोई बात नहीं जी, दूसरी कमीज ही निकाल लाओ ना बक्स से।"

"अभी लाई" कहकर गृहिणी ने एक धोबी की धुली हुई सफेद कमीज़ निकाली। खोल कर बटन ठीक तरह से देखे और कहा "यह लीजिए ठीक है अब तो।"

"हां हां ठीक क्यों नहीं पर घर पहनने के लिए धारीदार रंगीन

कमीज ही निकाल लेतीं तो अधिक अच्छा रहता।"

"अच्छा जी। वही लीजिए", कह कर गृहिणी ने पहली तथा दूसरी दोनों कमीज़ों को तह किया। तीसरी रंगीन कमीज के फटे कालर को देख थोड़ी निराशा सी हुई कि शायद यह भी पसन्द से बाहर न हो पर उसे जैसे-तैसे पहन ही लिया गया।

गृहिणी पीने को दूध ले कर आई तो पति महाशय बोले। "भई यह बिना मलाई का रंडवा दूध मेरे गले से कैसे उतरेगा? जानती हो वैद्य जी ने कहा है कि मुझे अपने मस्तिष्क की खुश्की दूर करने के लिए छटांक दो छटांक मलाई प्रतिदिन खानी चाहिए, तभी उन की स्वर्ण भस्म का असर होगा। तुम दो छटांक मलाई नहीं तो दो छटांक दूध पर से उतरी मलाई तो दे दिया करो।"

भली कही आपकी और भली कही आप के वैद्य जी की। मलाई आपके लाडले भाई के लिए उतार रखी थी। अभी कालेज से आयेगा तो सौ नखरे करेगा। मनाना तो मुझे ही होगा। गृहिणी झट से मलाई ले कर आई और गिलास में उलटते हुए बोली—'लो अब प्रसन्नता से रंडवा नहीं सधवा दूध हाजिर है"। 'बहुत बहुत धन्यवाद। पर देखो न अब मलाई डालने से चीनी कम हो गई होगी।" गृहिणी चीनी लेने गई अभी आधे रास्ते में ही पहुंची थी कि पति महाशय को ध्यान आया कि मलाई मिलाने से दूध कुछ ठंडा हो गया है। जोर से आवाज दे कर बोले। "सुनती हो जरा दूध फिर से गर्म कर के लाना।" गृहिणी एक बार फिर दूध को गर्म कर के और चीनी मिला कर लाई। तभी बाहर से देवर जी दो मित्रों सहित आ पहुंचे। गृहिणी ने सर पर हाथ रखकर सोचा, "लो अब तो आज की संध्या बीत ही गई।"

जिन्दगी यूं भी...

पद्मा सचदेव

सृजनात्मक क्षणों में कलाकार कितने होश में रहता है, ये आज तक मालूम न हो सका। कोई बीज न जाने कब से मन-मस्तिष्क में उगने का यत्न करता रहता है। कब की सहेजी हुई, भोगी हुई, सही हुई स्थिति एक समय कविता या किसी और रूप में कलम द्वारा मुखरित हो उठती है। इसलिये यह कहना कि उस समय जिस अलौकिक अनुभृति का रसास्वादन कलाकार करता है, बाद में उसका बखान भी कर सकता है, ज़रा मुश्किल बात है। हां कुछ लिख लेने के बाद यह ज़रूर लगता है, जैसे कठिन पहाड़ लांघ कर कोई अपने आंगन में आ खड़ा हुआ हो। या गहरी नीली नदी में डूब डूब कर नहा कर आने की अनुभूति या ऐसा ही कुछ। लेकिन ठीक से उस अनुभूति का चित्रण मैं नहीं कर पाऊंगी। परन्तु यह मैंने हमेशा महसूस किया है कि कुछ कह लेने के बाद भी लगता है जैसे कुछ अनकहा रह भी गया है। कोई हल्का सा रंग, कोई पतली सी लकीर जिससे यह चित्र और सुन्दर हो सकता था। संतोष और असंतोष के बीच झूलते उन क्षणों की प्रतीक्षा में जितनी आतुरता होती है उतना भय भी। न जाने समुद्र मन्थन के बाद क्या निकलेगा। विष या अमृत स्त्रियों के लिये ये क्षण और भी दुर्लभ होता है। पुरुष कलाकार की तरह हम स्त्रियां दफ़तर से आकर ताकिये के सहारे बैठ छोटे पुत्र से बूटों के तस्में खुलवाते हुये चाय की हांक नहीं लगा सकतीं। न ही चाय की चुस्कियों में आसपास के लोगों को नज़रअन्दाज करते हुए सुबह की डाक ही पढ़ सकती हैं। जो स्त्रियां दफ़तर में काम करती हैं उन्हें मालूम है कि घर में ठंडा चूल्हा मुंह बाये उनकी प्रतीक्षा किया करता है। ये क्षण इस अवसर पर हमारे आंचल का छोर पकड़े एक नटखट बालक की तरह मुस्कराता रहता है। और सर से पांव तक इस क्षण में भीगी महिला नवजात शिशु की तरह इसे अपने आंचल में सहेजती रहती है। कभी ऐसे अंतराल भी आते हैं जब यह क्षण महीनों पास फटकता भी नहीं। सिर्फ़ भागता नज़र आता है। कभी इस मोड़ पर, कभी उस पगडंडी पर। जो कोई इसमें गहरे डूबता है वही पाता भी है। स्त्री के मन में उठते ज्वार को महसूस करना मेरी कमजोरी है और उसे रेखांकित करना मेरा धर्म कविता लिखना एक तरह से मन का बोझ हल्का करना होता है। यह बोझ जो देते आए हैं, उन्हें मेरा प्रणाम।

डोली के बाहर



जिस गांव के बीचों-बीच नदी बहती हो उसके क्या कहने। गर्मी के दिन हैं। नदी का पानी सूखा हुआ है। सूखी रेती पर सांझ घिरने से पहले कुछ बच्चे खेल रहे हैं। एक बच्चा सामने रेत में पांव दबा कर अपना घर बनाती लड़की की आंखों में रेत फेंकता है। एक चीख के साथ लड़की का पांव भी रेत से बाहर आ जाता है। और अधबना मकान भरभरा कर गिर जाता है। लड़की की आंख में रेत के कण लाल लाल निशान छोड़ जाते हैं। ज़रा सा ठीक होते ही वह बालिका फिर रेत में पांव दबा कर एक और घर बनाना शुरू कर देती है। हम और आप इसे बच्ची का खेल ही समझ रहे हैं। परन्तु उसे यह घर पूरा महल सा दिखाई दे रहा है। वह उसमें लीन है।

तभी दूर गांव के छोर से नदी के बीचों-बीच दो तीन आदमी और कहार आते दिखाई देते हैं। कहारों के सर पर डोली है। डोली के लाल पर्दे का रंग फीका पड़ चुका है। परन्तु कपड़ा अभी भी दुल्हिन को सुरक्षित रखने के लिए काफी है। बच्चे विशेषकर लड़कियां, आती हुई डोली को बड़ी उत्सुकता से देखती हैं। डोली अभी कुछ दूर है, बच्चे फिर खेल में व्यस्त हो जाते हैं।

डोली को उतार कहार लाल लाल गमछों से अपना पसीना पोंछते हैं। सिर का मुंडासा फैला कर चारपाई पर डाल देते हैं। पालकी के साथ के दो अधेड़ व्यक्ति मैली लंगोटी पहने हुये हलवाई के हाथ से चिलम लेकर बारी बारी से कश लेते हैं। बातें करते हैं। हलवाई दोनों में मूंग की दाल के लड्डू डाल कर उन्हें थमाता है। तीनों बातों में लगने से पहले कहारों को पानी भिजवाते हैं।

वह लड़की जिसकी आंख में से थोड़ी देर पहले रेत निकालना मुश्किल था, सकुचाती सी बड़े ही चाव के साथ डोली का पर्दा उठा कर अंदर झांकती है। अन्दर उससे कुछ ही बड़ी दुल्हन पोटली में से निकाल कर छुहारे खा रही है। उसे देखते ही छुपा लेती है। गर्मी की वजह से उसका चेहरा पसीने से तर है। यह लड़की हलवाई का कोयलों से काला हुआ

गत्ता और पानी लेकर आती है। उसे पंखा झलना शुरू कर देती है। दुल्हन एक ही सांस में पानी पीकर मुस्कराती है। हिलने से उसके चांदी के गहनों की घुंघरियां छनछना उठती हैं। फिर दोनों ही मुस्कराती हैं। एक इस खुशी में कि मैं सुसराल जा रही हूं, दूसरी इस आशा में कि मैं सुसराल जाऊंगी। हंस कर लड़की पूछती है—

—कहां है तुम्हारी सुसराल

—उत्तर वाहिनी में

—तब तो पहुंचने में बड़ी देर हो जाएगी।

—हां!

—साथ में दो बूढ़े कौन हैं।

— मेरे जेठ हैं।

—ओह! और वो?

—वो फौज में है।

—तुमने देखा है।

—नहीं उसका घोड़ा देखा है।

—घोड़ा, सिर्फ घोड़ा......?

—नहीं उसकी आवाज़ भी सुनी है। जब ब्याह के बाद मैं सुसराल आ रही थी तो रास्ते में मुझे बड़ी भूख लगी नाइन ने कहा था—सुसराल जाकर पहले रोज़ कुछ नहीं खाना। इसलिये अपने कलीरों के साथ लगा सूखा नारियल लगभग पूरा ही खा चुकी थी।

कहते हैं नारियल खाने से न भूख लगती है न प्यास। तभी डोली के पीछे से एक हाथ पर्दा उठा कर उभरा था, साथ में घोड़े के हिनहिनाने की आवाज़ भी। उस हाथ में मठरी थी। उसने कहा था, खा ले क्या मेरे हाथ का भी नहीं खाएगी? तब मैं आठ बरस की थी, पर यह जानती थी, कि यह किसका हाथ है। मैंने मठरी नहीं ली। उसने डोली में मठरी डाल कर हाथ खींच लिया। मठरी मैंने खा ली थी। पांच साल बाद गौना हो रहा है।

—वह क्यों नहीं आया।

—उसे छुट्टी नहीं मिली। एक महीने बाद आएगा।

—तो तुम भी एक महीने बाद क्यों नहीं आईं?

कटाई के दिन हैं, सब खेतों पर जाएंगे। मैं घर में खाना पकाऊंगी।

मवेशी संभालूंगी और खाना लेकर खेतों पर जाऊंगी।

घर में कौन कौन हैं।

मेरी मां, बापू और तीन छोटे भाई।

रोती क्यों हो ? मैंने तुम्हारी सुसराल के बारे में पूछा था।

वहां सभी हैं।

तभी उन व्यक्तियों में से एक ने आकर उस लड़की को दूध का गिलास थमा कर कहा था। इसे पिला दो। घर पहुंचने में देर होगी। और फिर वह डोली चली गई थी।

"रानी बनने का सपना कितना अपना"

स्त्री का यह रूप क्या आज भी हमारे देहातों में है ? इसका उत्तर मैं ठीक से नहीं दे पाऊंगी लेकिन मैं यह जानती हूं कि तेरह चौदह बरस की हर लड़की सपने देखना शुरू कर देती है। इनमें से कौन गोली बनेगी, कौन रानी, इसका निर्णय तो भविष्य की मुट्ठी में बन्द रहता है। परन्तु सपना सभी का एक सा होता है। रानी बनने का सपना। अपने घर का सपना। घर का दरवाज़ा खुलते ही किसी ठंडी हवा के झोंके सा, किसी के अन्दर आने का सपना। लाडली बेटी कभी-कभी अपने बाबुल से ये भी कहती है—

लाडली नीं रख बाबला
तुन्दी लाडली दे दिन थोड़े
लाडली में ईयां रक्खी ऐ
जियां कागद दै बिच्च सुन्ना

'बाबुल लाडली मत रखो। तुम्हारी लाडली के दिन थोड़े हैं। बाबुल कहते हैं, लाडली मैंने ऐसे रखी है जैसे कागज में लिपटा सोना।"

सभी सपने सच नहीं होते। फिर भी सपने देखने की आदत नहीं छूटती। कुछ सपने बड़े घिनौने होते हैं। जो अपनी पूरी बदसूरती लिये उम्र भर आपका पीछा करते हैं।

श्रीनगर के अमीराकदल चौक में एक दुकान से एक स्त्री माचिस की डिब्बी उठा लेती है। दुकानदार देख लेता है। चिल्लाता है, सिपाही आ जाते हैं। पच्चीस तीस लोगों में घिरी उस स्त्री को माचिस ढूंढने में लगे हाथ नोचते हैं। स्त्री भी चिल्लाती है। लेकिन उसकी चीख शोर-

गुल में दब जाती है। एक मकान की तीसरी मंजिल पर खड़ी मैं हक्की बक्की हो जाती हूं। जी चाहता है छलांग लगा कर भीड़ पर जा गिरूं। परन्तु ऐसा नहीं कर सकती। मटियाले रंग का फिरन पहने उस विवश औरत को दिलासा भी नहीं दे सकती। मैं नहीं चाहती मेरे गिरते ही भीड़ में से कुछ के हाथ मेरी ओर भी बढ़ें। हां, मैं बुज़दिल हूं।

एक और दृष्य जो बम्बई के सायन सर्किल पर कभी भी जाऊं तो आंखों में दहशत भर देता है।

मैं अपने दफ्तर से घर लौट रही थी। शाम के आठ बजे होंगे। एक जीप पर ड्राइवर और एक लड़की थी। ड्राइवर बड़े प्यार से उसे कुछ कह रहा था। वह 'न, न' में गर्दन हिला रही थी। अचानक बिजली की तरह उसका हाथ हवा में उठा और लड़की के पेट में ज़ोर का मुक्का उसने मारा। दोनों हाथों से पेट पकड़ कर लड़की के उकड़ूं होते ही जीप चल पड़ी।

"सपनों से दूर अपनों का यह रूप"

और सुनिये। हर रोज़ सुबह सब्ज़ी बेचने एक बड़ी ही बांकी मुस्कराहट वाली औरत हमारे जहां आती है। आज सुबह उसका चेहरा बड़ा उदास था। उसने बताया—उसकी लड़की मरणासन्न है। नाचर अस्पताल में है। परन्तु उसका आदमी काम पर नहीं जाता। आज मजबूरन उसे सौदा बेचने आना पड़ा है। ये सभी राजस्थानी औरतें सब्ज़ी बेचकर घर चलाती हैं। पति सारा दिन चिलम फूंकता है।

मैंने उससे पूछा—मरियल सा जो एक बार तुम्हारे साथ आया था, क्या वही तुम्हारा पति है। तुम उससे मार खा लेती हो?

—क्या करूं मेम साब वो छोड़ कर जायेगा तो दूसरी बना लेगा।

मैंने कहा—बना लेने दो अपने लिये तो तुम कमा ही लेती हो।

उसने रोकर कहा मेम साहिब, बच्चों को बाप कहां से मिलेगा।

उसकी इस बात का मेरे पास कोई उत्तर न था।

ठुमरी, गज़ल की एक गायिका को मैं बड़े करीब से जानती थी। उन्होंने ही बताया था कि उनके गाने पर मुग्ध होकर एक साहब उनसे ब्याह करने की मिन्नतें करते रहे। लेकिन जब शादी हो गई तो ज़बरदस्ती इनका गाना बन्द करवा दिया। जो अंगुलियां हारमोनियम

पर चलती थीं वे सुन्न हो गई। इससे बड़ी सज़ा वे आशिक उन्हें और क्या दे सकते थे ?

अंतरराष्ट्रीय महिला वर्ष के बारे में निश्चय ही मेरी सब्ज़ी बेचने वाली बहन नहीं जानती और भारत की कितने प्रतिशत स्त्रियां जानती होंगी कि पुरुषों की इस दुनियां में एक वर्ष उनके लिये भी मनाया जा रहा है।

हमारे गांव की एक बेहद सुन्दर स्त्री सारी रात सीढ़ियों के बीच ऊंघती रहती थी ताकि चौबारे पर उसका पति जिस दूसरी औरत को लेकर बैठा है उसके बारे में सास को खबर न हो जाये।

जो बातें मन में शूल की तरह गड़ी रहती हैं, उनमें 18 वर्ष पहले की एक सांझ का वाक्या भी है। उस सांझ मुझे अस्पताल में दाखिल करवाने ले जाया जा रहा था। लेकिन मैं ऐसे दो हाथ ढूंढती रही थी जो मुझे तीसरी मंजिल से नीचे अस्पताल की गाड़ी तक ले जाते। मुझे याद है। हड्डियों की मुट्ठी भर मेरी देह को नीचे तक ढोकर ले जाने के लिए मज़दूर ने आठ आने लिये थे। उस अस्पताल में सभी बीमार औरतों की एक एक कहानी थी। इन्हें सुन कर मन को काबू में रखना मुश्किल हो जाता था।

"सौत का दुख और वह बीमार लड़की"

अस्पताल में मेरे ही बिस्तर के सामने एक लड़की थी। बड़ा सुन्दर सा नाम था उसका। बारामूला के पास पहाड़ों पर उसका गांव था, जहां वह तीन भाइयों की इकलौती बहन ढोर चराती थी। उसे देख कर मैं कहा करती थी। फ़ैज़ ने यह शेर तुम्हें ही देख कर लिखा था—
"तेरी आंखों के सिवा दुनिया में रखा क्या है।"

यह सुनकर वह शरमा जाती थी, परन्तु जब तीन-तीन घंटे चुप रहकर अपनी सौत के बारे में वह सोचती तो उसे दो-दो खिदमतगार भी मुश्किल से पकड़ कर बांध पाते थे। उसकी आंखें ढलते सूरज की तरह लाल हो जाती थीं और वह कहा करती "पद्मा भैन, मैं पागल नहीं हूं" और अपने खूबसूरत पतले पतले हाथ बिस्तर पर लगे लोहे के डंडे पर मारा करती। मैं नहीं जानती वह मर गई है या मरने की कोशिश में है। मैं उसे बहुत प्यार करती थी। मैं जानना भी नहीं चाहती।

पांच बजे जब बीमारों से मिलने उनके घर के लोग गांव-गांव से

आते थे। तब सभी आंखें दरवाजों की तरफ लग जाती थीं। लेकिन मैं अपनी आंखों के सामने फिरकी की तरह घूमते कई चेहरों को छुपाए कंबलों में दुबक जाती थी। मैं जानती थी, यहां कोई नहीं, कोई नहीं आयेगा।

"न कह पाने का दर्द—कितना गहरा, कितना बड़ा"

विदेशों में न जाने स्त्रियां कैसे मुक्त होने की बात सोचती हैं। मुक्त होना क्या भारत की नारी भी चाहती है? जो बचपन से ही बाप के घर रहते हुये भी पति ही के घर के बारे में सोचती है। मैं उन मुट्ठी भर औरतों की बात नहीं करती जो अपने आपको आधुनिक कह कर रसोई बनाने के समय ब्रिज खेलने जाती हैं। या जिस समय, किसी सड़क पर, हवा खिलाने के बजाय आया उनके बच्चे को मार खिला रही होती है, और वे खुद किसी होटल में कॉफी पी रही होती हैं; परन्तु उनकी बात कर रही हूं जिनकी सुबह आंगन बुहारने के बाद होती है और रात दही जमाने के बाद। यही स्त्रियां अधिक हैं। और महत्वपूर्ण हैं।

इनकी समस्याएं अनेक अंतरराष्ट्रीय महिला वर्ष भी नहीं सुलझा सकते। यह तो वैसे ही है जैसे भूखे बच्चे को चूसनी देकर बहला दिया जाये।

बच्चों में व्यस्त मां का सार्थक जीवन भी मैं भूली नहीं हूं। पति का प्यार स्त्री के लिये सर्वोपरि है। भाई के छत्रछाया जैसे हाथ का स्नेह, बाबुल-मां का ममत्व सभी उसके आगे परछाइयां हैं। परन्तु जिसे यह सुख प्राप्त न हो वह क्या अकेली कभी हमारे समाज में रह पाती है? क्या कभी उसे बोलने दिया जाता है। न कह पाने का दर्द बहुत बड़ा दर्द होता है और यह स्त्री के हिस्से में सबसे अधिक आया है।

यह सच है कि समाज में स्थान, सम्मान पाने और सुरक्षा के दृष्टिकोण के अलावा भी स्त्री का मन हमेशा अपने घर में ही बसता है। उसे एक घर चाहिये...अपना घर जहां उसका सम्मान हो। जहां से कभी कोई उसे हाथ पकड़ कर निकाल न सके। क्या इस वर्ष कुछ स्त्रियों को यह मिल सकेगा?

बाहर काम करने वाली औरतें घर को कम अहमियत दें, या नजरअन्दाज करें ऐसा मैं सोच भी नहीं सकती। रही कलाकार महिलाओं की बात, तो अपने बारे में मैं यह कह सकती हूं कि मैंने अपनी कई कविताएं चाय के खाली प्यालों में लुढ़क जाने दी हैं परन्तु चूल्हे पर चढ़ी

दाल को बघार देना मैं नहीं भूली। कलाकार जब संतुष्ट हो जाये, तब कला खत्म हो जाती है। मैं भी संतुष्ट नहीं हूं। न समाज के द्वारा स्त्रियों के साथ हो रहे व्यवहार से, न स्त्री की बन्द जबान से।

बड़ी दीदी (सुश्री लता मंगेशकर) से भी कई बार इस मसले पर बात हुई है। वह शाम मैं कभी नहीं भूलूंगी जब दीदी ने कहा था, अगर मेरी शादी हो जाती और पति को यह पसन्द न होता कि मैं गाना गाऊं, तो मैं गाना छोड़ देती। लता को भूल जाती और एक साधारण स्त्री की तरह घर की चार-दीवारी में रहकर एक परिवार के सुख का आधार बनती।

एक बार इसी विषय पर आशा (भोंसले) दीदी से बात हुई तो वह बोलीं कि अगर कला के क्षेत्र में या किसी और क्षेत्र में स्त्री कुछ करना चाहे तो उसे शादी नहीं करनी चाहिये। शादी तो एक समझौता है और इन हालात में कोई भी कला या कार्य ठीक से विकसित नहीं हो सकता। स्त्री के नाम से पुरुष जाना जाये, यह उसे कभी सहन नहीं होता। न ही कभी होगा।

खुशकिस्मती से मेरे पति स्वयं कलाकार हैं, इसलिये जो थोड़ा बहुत काम मुझे करना होता है, उसमें मुझे ऐसी कोई दिक्कत पेश नहीं आती जिससे मुझे अपनी कला का गला घोंटना पड़े। लेकिन ऊपर मैंने जिन भिन्न भिन्न तस्वीरों का खाका खींचा है, उनका दुख-दर्द मैंने कभी महसूस न किया हो, ऐसी बात नहीं है। अपने अकेले क्षणों में मैंने नारी के हर दुःख को अपने हृदय में पूरी तरह ग्रहण करके उसे भोगा है। जिया है। फैज़ का यह शेर, जो उन्होंने मज़दूरों पर लिखा है, उसे स्त्रियों पर लागू करके कई कई घंटे उदास भी रही हूं—

जब कभी बिकता है बाज़ार में मज़दूर का गोश्त
शाहराहों में गरीबों का लहू बहता है।

आग सी सीने में रह रह के उबलती है न पूछ
अपने दिल पे मुझे काबू ही नहीं रहता है।

लेकिन उदास रहने के बाद अपना यह घर मुझे और भी सुन्दर लगता है। मैं निश्चय ही यह कह सकती हूं कि गृहस्थी के इस बंधन

से कोई भी स्त्री मुक्त होना नहीं चाहती। यह ऐसा सुनहरा जाल है जिसकी चकाचौंध में फंसा यह मन उफ तक नहीं करता।

कई बार हसीन तितली की तरह मंडराती कविता के पंख पुलाव की गर्म भाप में निश्चल हो जाते हैं परन्तु ध्यान पुलाव में ही रहता है। यही स्त्री जीवन की सार्थकता है। भगवान ने भी हमें पुरुष से छोटा बना कर, मां बनाने के बाद, अपने से भी ऊंचा दरजा दे दिया है। भरी हुई गोद की इस गर्मी की वजह से ही बहुत सी नारियां डोली के बाहर पांव नहीं रखतीं। बंधन का सुख सब से बड़ा सुख है।

('धर्मयुग' से साभार)

बयार के बहने तक...

मोती लाल क्यमू

मैं अपने को एक नाटककार नहीं, निर्देशक एवं प्रस्तुतकर्ता मानता हूं। नाटक लिखना मेरे लिए एक मजबूरी है। एक निर्देशक को खेलने के लिए नाटक न मिलें तो वह क्या करे? नाट्य-प्रशिक्षण ग्रहण करते समय मुझे इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई कि यदि मेरे जीवन का उद्देश्य कश्मीर को रंग-मंच प्रदान करना है तो मंचन के लिए नाटक कहां हैं? मैंने अपना पहला नाटक हिन्दी में लिखा, कारण यह था कि उसे मंचस्थ करने के लिए मेरे पास हिन्दी बोलने वाले नट थे। अपनी पहली कृति "तीन असंगत एकांकी" के बाद जितने भी नाटक मैंने लिखे वे सभी कश्मीरी में लिखे।

मैंने जीवन में दुःख झेले हैं। सुख की अनुभूति मनोरंजन के रूप में दूसरों को दे पाना और अपने को मसखरा कहलवाना—यह एक लालसा जब मन में उभरती है तो लोक-नाट्य का रूप मुझे अपने नाटक के लिए भाता है। अपने परिवेश से कैसे कट सकता हूं? इसलिए मेरा कथ्य लोक-नाट्य-शैली में नयापन उत्पन्न करता है। हजारों लोग मेरे नाटक देखते हैं और कहते हैं अरे! क्यमू ने तो हमारी लोक-नाट्य परम्परा का पुनरुत्थान कर दिया। क्या अब यह शैली ज़िन्दा रहेगी?

लेकिन मेरे सब से अच्छे नाटक लिखे ही नहीं गए। वे तो मुझी में मर गए। समय कहां है लिखने का? जब नाटक लिखता हूं तो महीनों उस के बारे में सोचता रहता हूं फिर निर्देशक के रूप में उस पर सोचता हूं और काम करता हूं। जब उस की पूर्णता का पूर्ण आभास होता है तब उसे मंचस्थ करता हूं या छपवा लेता हूं। विश्व भर के रंग-रूपों से परिचित रहता हूं इसलिए हर बार एक न एक प्रयोग करता हूं।

नंगे

(एकांकी नाटक)

पात्र

रतिरमण

चेतना

इंस्पेक्टर

डाक्टर

कैदी

मुन्शी

और कुछ सिपाही

[पर्दा उठते ही मुन्शी रजिस्टर पर कुछ लिखते हुए दिखाई देता है। फिर पढ़ता है। पार्श्व में घड़ी ग्यारह बजाती है। इंस्पेक्टर अन्दर आता है। हवालदार मुन्शी खड़ा हो जाता है और उसके बैठने के लिए कुर्सी छोड़ देता है। दो सिपाही रतिरमण को अन्दर लाते हैं। रतिरमण अर्धनग्न है। उसने कमर पर तौलिया लपेटा हुआ है।]

इंस्पेक्टर- यहां आइये। (स्वयं बैठ जाता है। रतिरमण उसके सामने खड़ा है) बैठ जाइये। (रतिरमण खामोश खड़ा है। वह कमरे के इर्द-गिर्द देखता है। पहली बार इस कमरे में पधारने के बावजूद उसे लगता है जैसे इस कमरे को बहुत बार देखा है। इंस्पेक्टर भी उसके मुख की ओर देखकर कमरे में नज़रें घुमाता है मानो सचमुच कमरे में कोई देखने योग्य वस्तु ढूंढ रहा हो।) ... ..मैं आप से कह रहा हूं। बैठ जाइये।

[रतिरमण दूसरी कुर्सी पर बैठ जाता है। इंस्पेक्टर जेब से कलम और हैण्ड-बैग से कागजात निकाल कर लिखने लगता है। रजिस्टर के पृष्ठ उलटता है।]

रतिरमण— इंस्पेक्टर साहब। आपकी सारी इन्क्वायरी फ़िज़ूल जायेगी। आप मुझ पर विश्वास कीजिए। मैं झूठ नहीं बोल रहा हूं। मेरे पास कन्सेशन था, फार्म था, टिकट थी।

इंस्पेक्टर—आप अपना नाम बता दीजिए ?

रतिरमण—रतिरमण।

इंस्पेक्टर—[लिखकर] जाति ?

रतिरमण जी, जाति ? ओ ! मैं भारतीय नागरिक हूं।

इंस्पेक्टर मैं आपकी जाति पूछ रहा हूं।

रतिरमण—मैं कमजात नहीं। बदजात नहीं, असलजात हूं।

इंस्पेक्टर—उफ ! आपका उपनाम, आई मीन सरनेम ?

रतिरमण—[धीमे स्वर में] मदन ।

इंस्पेक्टर [लिखकर] मिस्टर बदन ।

रतिरमण—जी. आपने गलत लिखा । बदन नहीं, मदन ।

इंस्पेक्टर—ओह् ! आई सी । मदन । मिस्टर रतिरमण मदन ।

रतिरमण—दुरुस्त है । मेरे फार्म पर यही नाम था । प्रमाणपत्रों पर यही नाम है ।

इंस्पेक्टर—कहां के रहने वाले हैं आप ?

[रतिरमण चुप रहता है]

इंस्पेक्टर—मिस्टर मदन. मैं पूछ रहा हूं—आप कहां के रहने वाले हैं ?

रतिरमण –[कवि की भांति] हिमालय के प्रांगण में रहता हूं । [इंस्पेक्टर उसे घूर कर देखता है] जी, आप घूर कर क्या देख रहे हैं ? मेरे मुख पर मेरी रिहाइश का नाम नहीं लिखा है। सच ही तो कह रहा हूं । हिमालय एक विशाल पर्वत है और उसकी बाहें सागर पर्यंत फैली हैं । मैं उसकी बाहों में रहता हूं ।

इंस्पेक्टर—कहां से आ रहे हैं आप ।

रतिरमण – विश्वविद्यालय से । दो वर्ष का कोर्स समाप्त करके आ रहा था तो यह घटना घटी । आप विश्वास क्यों नहीं करते ?

इंस्पेक्टर—तो आप पढ़े-लिखे भी हैं ?

रतिरमण जी, अंग्रेजी पढ़ सकता हूं, लिख सकता हूं । हिन्दी पढ़ सकता हूं, लिख सकता हूं । उर्दू पढ़ सकता हूं, लिख सकता हूं । संस्कृत...

इंस्पेक्टर – बस बस ! आपकी तालीम ?

रतिरमण—शायद मैं आप से अधिक पढ़ा लिखा हूं ।

इंस्पेक्टर—क्या मतलब ?

रतिरमण - जी, मतलब यह कि हो सकता है कि मैं आप से ज्यादा पढ़ा-लिखा हूं ।

इंस्पेक्टर—मैंने 1958 में इंटर पास किया, एक साल तक पंजाब में पुलिस ट्रेनिंग की और चार साल से यहां पर सब-इंस्पेक्टर हूं ।

रतिरमण—[मुस्करा कर] ठीक है। (उसकी नकल करते हुए) मैंने 19।। में बी० ए० पास किया और आज तक बी० ए० का असली प्रमाण पत्र विश्वविद्यालय से नहीं मांगा।

इंस्पेक्टर—हुम। क्यों नहीं मांगा ?

रतिरमण—अभी तक उसकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ी।

इंस्पेक्टर—हु......म। काम की बात करो। आपने बगैर टिकट सफर क्यों किया ?

रतिरमण—आप यह प्रश्न बार-बार क्यों पूछते हैं। आप कैसे कहते हैं कि मैंने बगैर टिकट सफर किया। आप उस टिकट क्लैक्टर पर विश्वास करते हैं क्योंकि उसने सरकारी सफेद वर्दी पहनी है और मेरे कहने पर आपको विश्वास नहीं आ रहा है। क्यों ? क्योंकि मैं अर्धनग्न हूं। हूं न ? मेरे कपड़ों की चोरी हुई। बक्स चुराया गया बिस्तर चुराया गया। टिकट चुराई गई। मेरा व्यक्तित्व चुराया गया। इंस्पेक्टर साहब, मुझे नंगा छोड़ा गया।

इंस्पेक्टर चोरी के इलजाम में जो भी पकड़ा जाता है अपने को निरपराध प्रमाणित करने के लिए बहाना बनाता है।

रतिरमण—मैं बहाना नहीं बना रहा हूं। मैं एक शिकायत करने आया हूं। आप मेरी मदद कीजिए। जो कुछ मेरे पास था उसकी चोरी हो गई...मुझे विश्वास है कि चोर इसी स्टेशन पर उतरा होगा। मुझे मेरा व्यक्तित्व वापस दिला दीजिए। उसके बगैर मैं अधूरा हूं। आप विश्वास क्यों नहीं करते ?

इंस्पेक्टर—मिस्टर मदन, मुझे अपनी रिपोर्ट मुकम्मल करने में दिक्कत आ रही है। उचित यही रहेगा कि आप इस झूठ का निर्माण न करें।

रतिरमण—आपको यकीन है कि मैं झूठ बोल रहा हूं।

इंस्पेक्टर—आपके पास कोई मुकम्मल सबूत नहीं है। कोई गवाह नहीं है। आप एक अजीब कहानी रच रहे हैं।

रतिरमण—गवाह ! प्रमाण ! इंस्पेक्टर यही सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। उस डिब्बे में मेरे और उस लड़की के सिवा कोई नहीं था। मेरा अनुमान है कि वह लड़की इसी स्टेशन पर उतरी है। हो

सकता है कि उसने चोर को मेरा सामान चुराते देखा हो। क्या आप उसका पता लगा सकते हैं ?

इंस्पेक्टर बिना नाम, पता और शक्लोसूरत के कैसे जाना जा सकता है ?

रतिरमण—मेरे पास उससे नाम पूछने के लिए समय ही कहां था। ओह ! मेरा सब कुछ लूट लिया गया। सब कुछ लूट लिया गया। आपको यकीन क्यों नहीं आता ? मुझ जैसा पढ़ा-लिखा नौजवान आखर क्यों कर बगैर टिकट सफर कर सकता है ?

इस्पेक्टर—क्या आप गाड़ी में ऐसे नंगे ही घुसे थे ?

रतिरमण—इंस्पेक्टर, आप यह सवाल बार-बार क्यों पूछते हैं। मैंने कहा न कि मुझे नंगे ही सोने की आदत है। जब डिब्बे में कोई न था तो मैंने सारी बत्तियां बुझाईं और बर्थ पर सो गया। कुछ देर बाद जब मैं जागा तो शौच चला गया। वहां से बाहर आने के लिए दरवाजा खोला तो वह लड़की बिल्कुल सामने खाड़ी अपने बाल संवार रही थी। मुझे देखते ही उसने मुझे यह तौलिया दे दिया। मैंने दरवाज़े से केवल सिर और बाजू बाहर निकाल कर तौलिया ले लिया। दरवाजा बंद किया। जब मैं अपनी नग्नता छुपा कर बाहर आया तो गाड़ी इस स्टेशन पर खड़ी थी। मैं अपनी जगह पर गया तो देखा, मेरा सारा सामान गुम था। मैंने सारे डिब्बे की तलाशी ली। इधर ढूंढा. उधर ढूंढा पर कहीं कुछ भी नज़र नहीं आया। ...मेरा दिल धड़कने लगा। मैं घबरा गया। मेरी सांस तेज चलने लगी। नहीं। मेरा दम घुटने लगा। बड़ी जुर्रत से मैं बाहर आया। कुलियों से पूछा। सारे प्लेटफार्म के चक्कर काटने लगा। गाड़ी के प्रत्येक डिब्बे में घुसा। लोग मुझे आश्चर्य से देख रहे थे। और अंत में उस टिकट क्लैक्टर से पूछा तो उसने टिकट मांगा। उसे मेरी बातों पर यकीन नहीं हुआ। इंस्पेक्टर साहब, क्या मैं सच-मुच शक्ल से चोर लगता हूं ? क्या मेरे मुंह पर गंवारपन झलकता है ? क्या मैं फूहड़ लगता हूं ?

इंस्पेक्टर—क्या आप ने उस लड़की को पहले भी कभी देखा है ?

रतिरमण—नहीं। उसी समय पहली बार देखा। पर गौर से देखने का अवकाश कहां मिला। उसने मुझे यह तौलिया देकर मेरी सहायता न की होती तो मैं अपनी नग्नता न छुपा सकने के कारण गाड़ी के नीचे कट कर प्राण दे देता।

इंस्पेक्टर—(हंसते हुए) तो क्या आप सचमुच आत्महत्या कर लेते ?

रतिरमण—इसके अतिरिक्त मैं कर भी क्या सकता था ? आप ही बताइए क्या आप सैकड़ों लोगों के सामने नंगे फिर सकते हैं ?

इंस्पेक्टर—ओह, लीव इट !

रतिरमण—यह तो केवल एक अवस्था है जिसका मैं शिकार हुआ हूं। इंस्पेक्टर आप बाथ-रूम में नहा रहे हों तो अचानक यदि मैं आपका दरवाज़ा खोल दूं तो आप क्या करेंगे ? (चुप्पी) आप जल्दी से दरवाज़ा बंद करने की कोशिश करेंगे। और अगर दरवाज़ा बन्द होने से पहले ही मैं आपको तौलिया पेश करूं तो ? तो आप तौलिया लेकर, दरवाज़ा बन्द करके अपनी नग्नता को छुपाकर बाहर आयेंगे। गुस्सा होंगे। मुझ से मेरी मूर्खता का कारण पूछेंगे। परन्तु यदि मैं इतनी ही देर में गायब हो गया तो ? ..... तो ?

इंस्पेक्टर—अजब परिस्थिति होगी।

रतिरमण—तो बस, इंस्पेक्टर साहब, मैं ऐसी ही अजब परिस्थिति में पड़ गया हूं। आप विश्वास कीजिए, मैं इस दशा में कैसे रह सकता हूं। मैं बिल्कुल अधूरा हूं। अधूरा हूं। अधूरा।

इंस्पेक्टर—मिस्टर मदन मैं एक बात नहीं समझ सका।

रतिरमण—कहिए क्या ?

इंस्पेक्टर—गाड़ी में आपको नंगे सोने की क्या जरूरत पड़ी जबकि आप एक......

रतिरमण - जबकि मैं एक पढ़ा-लिखा नौजवान हूं। यही न ?

इंस्पेक्टर—एग्जेक्टलि दि सेम !

रतिरमण—इंस्पेक्टर साहब, बीस साल की उमर तक मुझे यह नहीं मालूम था कि नाइटस्यूट भी कोई चीज होती है। मुझे

एहसास था कि सारी दुनियां रात भर नंगी सोती है। जब मैंने पहली बार नाइटस्यूट खरीदा तो मुझे उसमें अपना आप बेढगा सा लगा। मुझे रात भर नींद नहीं आती थी। तब मैंने उसका इस्तेमाल करना ही छोड़ दिया। इंस्पेक्टर, मैं इस लम्बे सफर में जागकर अपने आपको कष्ट देना नहीं चाहता था। इसलिए डिब्बे में किसी आदमजात को न देखकर मैं अपनी आदत के मुताबिक ही सो गया था। किन्तु यह वाक्या अजब हुआ। मैं इससे बिल्कुल बेखबर था।

इंस्पेक्टर—ओ० के० मिस्टर मदन मैंने आपके बयान को गौर से सुना लेकिन अभी मेरे सारे संशय दूर नहीं हुए।

रतिरमण—तो क्या आपको अभी भी मेरे कथन पर संशय है ? क्या मैं झूठ बोल रहा हूं ? क्या आपको यकीन...

इंस्पेक्टर—यकीन हो सकता है परन्तु मुझे लगता है कि इस समय आप नरवस फील कर रहे हैं और रात भी काफी गुजर चुकी है। मैं आपके लिए कपड़े भेज देता हूं। आप पहन लीजिए। कल सवेरे बाकी कार्यवाही की जायेगी।

रतिरमण—लेकिन मुझे मेरे कपड़े दिलाइये। मेरी मदद कीजिए। मेरे सर्टिफिकेट्स मेरा बक्स और बिस्तर वापस दिलाइये। मुझे मेरा व्यक्तित्व वापस दिलाइये। मैं बिल्कुल अधूरा हूं। अधूरा हूं।

इंस्पेक्टर मैं पूरी कोशिश करूंगा। (चला जाता है)

रतिरमण—(पीछा करता है) मैं बिल्कुल अधूरा हूं। अधूरा हूं।

मुन्शी—(टेबल पर बिस्तर बिछाकर) सिरफिरों का आलम है।

सिपाही—हां भाई, यह केवल अपनी ही बात दोहराता है। भला कोई सज्जन व्यक्ति गाड़ी में नंगा होकर सफर कर सकता है ?

मुन्शी—अरे भाई, हमारे गांव के मुखिया जी कहा करते थे—

तुलसी इस संसार में भांत-भांत के लोग

(दोनों हंसते हैं,

सिपाही—वह टिकट क्लैक्टर एकदम भांप गया कि दाल में कुछ काला है। भाई लोग सफर का किराया नहीं देंगे तो अपने लोगों का निर्वाह कैसे होगा ?

मुन्शी—लोग जुर्म नहीं करेंगे तो हमारा काम बेकार हो जायेगा। अपना धंधा कैसे चलेगा ?

सिपाही—टिकट क्लैक्टर चाहता तो इसको छोड़ सकता था।

मुन्शी – कैसे छोड़ सकता था ? नंगे, अधनंगे आदमी से आधी टिकट का आधा भी नहीं मिल सकता था। अरे, यही तो अच्छा मौका मिला आदमी को पुलिस के हवाले कर देने का। ऐसे ही मौकों पर धाक जमती है।

सिपाही—खाक जमती है। अपनी तो आज की सांझ मारी गई। बगैर लाइट के साइकल सवारों से कुछ न कुछ मिल ही जाता।

मुन्शी—अरे भाई, सब दिन होत न एक समाना।

सिपाही—हवलदार जी, दुनियां में कभी सब लोग साधु नहीं हो सकते। सभी पुण्य नहीं कमा सकते।

मुन्शी—अरे, छोड़ दो इस पाप-पुण्य को। सो जाने का विचार करो। सुबह फिर वही घुमक्कड़ी धंधा शुरू होगा।

[बिस्तर बिछाकर सोने की तैयारी करता है। सिपाही बिस्तर लेकर स्टेज पार करता है। रोशनियां धीरे-धीरे कम होती हैं]

रतिरमण—(आवाज़) मैं अधूरा हूं। अधूरा हूं। उ...फ...।

[पार्श्व में घड़ी का एक टन] प्रकाश फैल जाता है। रतिरमण पुलिस-वरदी पहने स्टूल पर बैठा है। वरदी उसके शरीर पर बिल्कुल नहीं जंचती। वह बहुत विचलित दिखाई देता है]

घुटन। कितनी घुटन। कमरे की घुटन। अंधेरे की घुटन। निस्तब्धता की घुटन। (मुन्शी खर्राटे लेता है) नींद में सोए पड़े जानवरों के खर्राटों की घुटन। उफ जी ऊब उठता है। इस बेढंगेपन से कब नजात मिलेगी ? (खड़ा हो जाता है) काश ! यहां पर कोई खिड़की होती। छोटा सा झरोखा होता ! मैं तारों से आंखमिचौनी खेल सकता ! दो घूंट खुली हवा के पी सकता ! रात के चलते फिरते साये देख सकता ! (मुन्शी के समीप जाता है। उसकी बेल्ट और रस्सी

को उठाकर अपनी जगह पर आता है।) मैं इन वस्त्रों में अपने को खो चुका हूं। निगल चुका हूं। मुझे यह बेढंगापन एक नजर भी नहीं भाता। ओह, मुझे कुछ हो गया है। (बेल्ट अपनी कमर पर लगाता है तो वह पूरा नहीं आता है। खड़ा हो जाता है। बेल्ट का नम्बर देखकर) नम्बर, पुलिस नम्बर एक छः सात आठ, रोल नम्बर, कमरा नम्बर, परीक्षा नम्बर, टिकट नम्बर, सीट नम्बर! नम्बर... नम्बर...दस नम्बर, चार सौ बीस नम्बर, नम्बर। (बेल्ट फेंक देता है और अपना सिर पकड़ कर बैठ जाता है।) ओह, मुझे कुछ हो गया है। (दिल पर हाथ रखकर) यहां, कुछ हो गया है। नहीं। (सिर पर हाथ रखकर) यहां कुछ हो गया है। मुझ से सहा नहीं जाता। मुझे दर्द हो रहा है। मेरा बदन कांप रहा है। मुझे लगता है कि यह कमरा तंग होता जा रहा है। जैसे इसकी हर दीवार आपस में मिलकर मेरी चटनी बना डालेगी। यह स्टूल मेरी टांगों के नीचे से खिसक रहा है। उफ! यह रस्सी का लठा लगता है कोई इसे जोर से मेरी पीठ पर मार रहा है। ओह, मैं इन वस्त्रों में बिल्कुल नहीं सजता हूं। मेरे सारे बदन का ताप बढ़ रहा है। यह कपड़े मेरी हरारत बढ़ा रहे हैं। उफ! बेढंगेपन की घुटन! घुटन! घुटन! घुटन! घुटन! (अपने बाल नोचने लगता है।) नहीं सहा जाता मुझ से। मैं अधूरा हूं। अधूरा हू। बिल्कुल अधूरा हूं। मुझे मेरे कपड़े वापस दिला दो। उफ! घुटन! (उठ कर चारों ओर देखते हुए टहलने लगता है) सब सो रहे हैं। मजे की नींद सो रहे हैं। मेरी किसी को चिंता नहीं. जैसे दुनियां की मैं कोई इकाई नहीं। किसी को मेरी कोई चिंता नहीं, कोई आवश्यकता नहीं। कोई मेरा नहीं। एक निरर्थक वस्तु। तुच्छ वस्तु। उफ! मैं अकेला हूं। सोए हुए लोगों में अकेला हूं। जागे हुए लोगों में अकेला हूं। एकांत में अकेला हूं। इस घुटन भरे गह्वर में अकेला हूं। अकेला! अकेला उफ! मैं जल रहा हूं। सिर से पांव तक मेरा ताप बढ़ रहा है। मै उबल पड़ूंगा तो यहां की हर चीज पिघल जायेगी। मैं लावा उगलूंगा। नहीं सहा जाता मुझसे। [चिल्लाता है] मुझे छोड़ दो। छोड़ दो मुझे। मैं बीमार

हूं। मैं बुखार में जल रहा हूं।......[एकदम खामोश हो जाता है। मुन्शी को घूर कर देखता है, जो सो रहा है। रस्सी का लठा खोल देता है। मुन्शी को टेबल से बांध देता है। रस्सी को अपनी कमर के साथ बांधकर खींचता है। चिल्लाता है...।] चोर ! चोर ! चोर ! चोर। पकड़ लिया। चोर, चोर, चोर...

मुन्शी—[जागकर] कहां है. ओ-ओ, अरे—रे रे—रे—

रतिरमण—चोर, चोर, चोर, चोर। पकड़ लिया। चोर, चोर, चोर—
[सारी चौकी के सिपाही अस्तव्यस्त, नंगी दशा में अन्दर आते हैं। केवल इंस्पेक्टर नाइटस्यूट पहन कर अपने कमरे से आता है। सभी रतिरमण को घेर लेते हैं।]

पहला सिपाही—कहां है ?

दूसरा सिपाही—अरे बाबू, तुम ! क्या माजरा है ?

तीसरा सिपाही—यह क्या तमाशा है, हवलदार को बांध लिया है ?

रतिरमण—चोर—चोर—चोर। पकड़ लिया चोर—चोर—चोर !

इंस्पेक्टर—[अन्दर आकर] पकड़ लो! कौन है, कैसे घुस आया ? अरे ! अरे आप। ह्वाट नानसेंस ?

रतिरमण—चोर ! यह रहा मेरा चोर। मैंने रस्सी से बांध लिया है। वरदी चुरा रहा था। चलो, पुलिस थाने पर चलो।

इंस्पेक्टर- छोड़ दो। खोल दो रस्सी। क्या पागलपन है ?

मुन्शी—साहब, मैं केवल सो रहा था। बाबू की चिल्लाहट सुनकर जाग पड़ा तो अपने को इस रस्सी में जकड़ा पाया।

रतिरमण—यह चोर है। मेरी मदद करो। मुझे देखो मैं पुलिसमैन हूं।

इंस्पेक्टर—छोड़ दो इसे।

रतिरमण—तुम कौन होते हो मुझे रोकने वाले, मैं इस चोर को पकड़वा कर ही रहूंगा।

इंस्पेक्टर मैं यहां का इंस्पेक्टर हूं और यह सभी मेरे सिपाही हैं।

रतिरमण - एकदम गलत। सिपाही मैं हूं। तुम कोई इंस्पेक्टर नहीं हो।

तुम्हारे पास कोई वरदी नहीं है, ये सब नंगे हैं। तुम नंगे हो। साधारण आदमी हो। फूहड़ हो।

इंस्पेक्टर—बंद करो यह बकवास।

रतिरमण—तुम इस मामले में दखल मत दो। यह मेरा चोर है। मैं इसे थाने ले जाऊंगा। तुम सभी चोर की मदद करते हो। जुर्म करते हो।

इंस्पेक्टर—शट-अप, पकड़ लो इसे। और खोल दो हवलदार की रस्सियां।

[हवलदार की रस्सियां खोल दी जाती हैं। रतिरमण को कुछ सिपाही पकड़े हुए हैं]

रतिरमण—छोड़ दो मुझे। मैं झगड़ालू आदमी नहीं हूं। छोड़ दो।

[सिपाही रतिरमण को छोड़ देते हैं]

इंस्पेक्टर—मिस्टर मदन, ऐसी हरकतों से आप अपना केस कमजोर कर रहे हैं। मुझे आपसे यह उम्मीद नहीं थी। यह बच्चों जैसी शरारतें।......आप अभी तक सोए नहीं ?

रतिरमण—मुझे नींद ही नहीं आती। मेरा अपना बिस्तर होता तो मैं उसमें नंगा सो कर लम्बा हो जाता। मेरा यहां पर दम घुटता है। इस कमरे की घुटन मुझे चुभ रही है।—यहां पर एक भी खिड़की नहीं, जिसमें से पवन का एक झोंका आकर मुझे शीतल कर देता। देखिए, मेरा सारा बदन जल रहा है। मेरी आंखों के आगे अजब-अजब रंग के गोल गोल दायरे उभर रहे हैं। हर रंगीन दायरे में एक चमक-दार बिन्दु है। और......और फिर यह अंधेरा। उफ...!

इंस्पेक्टर—मिस्टर मदन, ठीक यही रहेगा कि आप हम लोगों को परेशान न करें।

रतिरमण—नहीं। मैं आप लोगों को परेशान नहीं कर रहा हूं। केवल मेरे दिमाग में आप लोगों के भूत घुस आए हैं। नंगे-अधनंगे भूत। मैं उनकी छाया देख-देख कर डर रहा हूं।

इंस्पेक्टर—शट-अप। आई वॉर्न यू। अगर आप फिर ऐसी हरकतों पर उतर आए तो मैं आपके हाथ-पैर बंधवाकर उस कोठरी में बंद कर दूंगा।

[जाने लगता है]

रतिरमण कोठरी !

इंस्पेक्टर—दिखाओ इसको कोठरी। हटाओ उसका पर्दा। मिस्टर मदन, खामोशी से बैठ जाइये।

[पर्दा उठता है। कोठरी दिखाई देती है। रति समीप जाता है। रोशनियां कम होती जा रही हैं। रति की छाया सींकचों पर पड़ती है। अन्दर से एक कैदी दिखाई दे रहा है। वह रति को देखता है। थोड़ी देर बाद रति उसकी ओर पीठ कर के सिर को थाम कर बैठ जाता है। सभी चले जाते हैं।]

मुन्शी—[पुन: सोने का उपक्रम करते हुए] भाई साहब, अब ज़रा सोने दीजिएगा। दिन भर घूमते रहने के बाद रात के ये दो पहर सोने को मिलते हैं।

रतिरमण सो जाओ वत्स, मेरे जिगरी दोस्त, आराम से सो जाओ। मैं केवल तुम्हारे खर्राटे गिनता रहूंगा।

[मुन्शी सो जाता है। रतिरमण कैदी की ओर नज़रें घुमाता है]

कैदी—हा ..हा...हा...[हंसता ही रहता है]

रतिरमण शि...

कैदी—लगता है नये आए हो, बिल्कुल नए।

[रति चुपचाप खड़ा हो जाता है]

कैदी हर नया आने वाला यहां आकर पहले तूफान मचाता है लेकिन फिर बर्फ की तरह ठंडा हो जाता है। इस अंधेरे का अभ्यस्त हो जाता है।

रतिरमण—कौन हो तुम ?

कैदी—हुम। यह पूछने से तुम्हें क्या मिलेगा ?

रतिरमण - मैं तुम्हें जानने की कोशिश करूंगा। किस इल्जाम में पकड़े गए हो ?

कैदी—यह चाहते हैं कि मैं इनके लगाए हुए झूठे आरोप स्वीकार कर लूं।

रतिरमण—क्या आरोप लगाया गया है तुम पर ?

कैदी चोरी का।

रतिरमण—ओह क्या चुराया है तुमने ?

कैदी - अफसोस इस बात का है कि मैंने कुछ भी नहीं चुराया है। बल्कि मैं ही चुराया गया हूं। अपनी छोटी सी दुनियां से चुरा कर मुझे यहां फेंक दिया गया है।

रतिरमण—कितने दिनों से यहां हो ?

कैदी यहां दिनों का कोई हिसाब नहीं रहता। न कोई खिड़की न रोशनदान। हर वक्त सन्नाटा छाया रहता है। केवल वह छोटा सा बिजली का लैम्प जलता रहता है। कब सूरज चढ़ता है, कब ढलता है, इसका मुझे कोई पता नहीं। यहां पर कोई घड़ी नहीं। लगता है यहां पर समय गतिहीन हो गया है और ज़िन्दगी बेजान हो गई है।

रतिरमण—तुम ठीक कह रहे हो। यहां पर केवल घुटन है।

कैदी—यह प्रारम्भिक अवस्था है। फिर घुटन के आदि होकर घुटन में ही लीन हो जाओगे। अंधकार की निस्तब्धता के पात्र बन जाओगे।

रतिरमण—नहीं, मैं यह दीवारें तोड़ दूंगा। मुझे अपना व्यक्तित्व वापस पाना होगा। मुझे अपने कपड़े ढूंढने होंगे। अपनी सर्टिफिकेटस प्राप्त करनी होंगी। वही मेरी संचित सम्पत्ति है। मेरा व्यक्तित्व है। मैं वह नहीं जो तुम मुझे इस वरदी में देख रहे हो। यह जूठन है। इस अंधेरे की जूठन। इस घुटन की जूठन।

कैदी—हा...हा...हा...नये जी, मैंने भी पहले कुछ ऐसा ही समझा था परन्तु फिर धीरे-धीरे सब ठंडा हो गया। अब बस खामोशी ही साथ देती है।

रतिरमण—लेकिन मुझे यह खटकती है। मेरे व्यक्तित्व में खामोशी के लिये स्थान नहीं है। मैं झंकार हूं। कोहराम हूं। टंकार हूं। ध्वनि हूं।

कैदी—जब थक जाओगे तो स्वत: खामोश हो जाओगे।

रतिरमण—नहीं, मैं अपने तप से यहां की दीवारें पिघला दूंगा। यहां से निकल भागूंगा। मैंने कोई चोरी नहीं की है। मुझ पर कोई इलजाम नहीं। मैंने बगैर टिकट सफर नहीं किया है। मैंने कन्सेशन फार्म भर कर टिकट प्राप्त की है।

कैदी—तो फिर पकड़े ही क्यों गए ?

रतिरमण—क्योंकि मैं टिकट न दिखा सका। गाड़ी में मेरे कपड़े, टिकट, रुपये बिस्तर और बक्स—सब कुछ चोरी हो गया।

कैदी और तुम्हारा व्यक्तित्व ?

रतिरमण—इन सब चीज़ों में ही मेरा व्यक्तित्व निहित है। व्यक्तित्व एक मुखौटा है जिसके दो रूप होते हैं—धूप और छाया। धूप-रूप इतनी प्रखर किरणों वाला होता है कि हर देखने वाले की आंखें चौंधिया जाती हैं। और छाया-रूप सभी देखते हैं। पर मुखौटा उतर चुका है। मेरा नंगा मुंह सामने है देखो तो इस पर मेरे उबलते ताप की रेखाएं उभर रही हैं।

कैदी—कैसा ताप है तुममें ?

रतिरमण—ओह, तुम नहीं समझोगे, पुराने जी। मैं इन कपड़ों में बेढंगा लगता हूं। मैं ऊब गया हूं। मैं घुट रहा हूं। मेरा आवरण मुझ से चुराया गया है। तुम नहीं जानते हो मुझे यहां अर्धनग्न लाया गया। अधूरा लाया गया।

कैदी—लेकिन क्यों ?

रतिरमण—ओह, मुझे हिंडोला याद आ रहा है। तुम कभी हिंडोले में झूले हो ?

कैदी—झुलाया होगा मेरी मां ने बचपन में......

रतिरमण—छिः बचपन में। रेलगाड़ी का सफर हिंडोले की हिल-जुल के बराबर है। है न ? और फिर एक बादाम सी आंखों वाली लकड़ी का साथ। लोहे की पटरी पर लोहे के पहियों की खटर-पटर। इंजन की छकछक। इसी समय लड़की डिब्बे की रोशनियां बुझा कर तुम्हें बाहुपाश में भर ले तो ?

कैदी—तौबा, तौबा ! सब लोगों के सामने ?

रतिरमण—पुराने जी, उस डिब्बे में हम दोनों के सिवा किसी आदमजात की सांस नहीं चल रही थी।

कैदी—भई, यह तो शिष्टाचार के विरुद्ध है।

रतिरमण - फिर वही आवरण। अपने अन्दर के उबलते ताप को कुण्ठित

करने के लिए लोग शिष्टाचार का ग्रावरण ग्रोढ़ते हैं। छिः शिष्टाचार!

कैदी—ग्राप तो क्रांतिकारी लगते हैं ?

रतिरमण हा...हा..हा... तुम तो हमें बहुत दूर खींच रहे हो। बहुत दूर। तुमने कभी दिल की धड़कनें गिनी हैं ?

कैदी—नाड़ी देखते समय केवल डॉक्टर लोग गिनते हैं।

रतिरमण—गिनते हैं। वे केवल शारीरिक ताप देखते हैं। मानसिक नहीं। यह नित्य हमारे मनों में विराजमान रहता है। हम केवल शिष्टाचार के ग्रावरण से इसको दबाते हैं। उफ! मेरे कपड़े चुराये गए। टिकट चुराई गई। ले गए, मेरा व्यक्तित्व ले गए।

कैदी—तुम्हारी बातें एब्स्ट्रेक्ट-सी लगती हैं। ग्राखिर यह सब कैसे हुग्रा ?

रतिरमण ग्रोह! तुम भी यही प्रश्न पूछ रहे हो? सब लोगों की जिज्ञासा एक समान। (हाथ से हवा में तीन प्रश्न-सूचक चिन्ह बनाता है।) क्या? क्यों? कैसे? हां! हां! हां! भाई, इस जगह का नाम क्या है ?

कैदी—थाना।

रतिरमण—थाना! ग्रौर इस, मेरा मतलब है, इस पुलिस चौकी का नाम ?

कैदी =थाना! पुलिस थाना।

रतिरमण—थाना! था···ना! रेलवे स्टेशन का नाम थाना। शहर का नाम थाना, पुलिस स्टेशन का नाम थाना।

कैदी—क्यों, क्या ढूंढ रहे हो इन नामों में ?

रतिरमण—कुछ नहीं! न जाने इन नामों में भूतकाल की नकारात्मकता क्यों मिल गई है। खैर, छोड़ दो। यह बताग्रो, तुम यहां क्यों कैद हो ?

कैदी—इस झूठे ग्रारोप का इकरार करने के लिए। यहां की यातनाएं सहने के लिए। लेकिन मैं कभी इनके बनाए झूठ का इकरार नहीं करूंगा।

रतिरमण—कौन सा आरोप लगाया गया है तुम पर ? चोरी का न ?

कैदी हां लेकिन मैंने चोरी नहीं की है। वास्तविकता कुछ और है।

रतिरमण – नहीं तो क्या मैं कभी बगैर टिकट सफर कर सकता हूं ? टिकट खो गया। कपड़े चुराए गए, व्यक्तित्व चुराया गया। मैं एक शिकायत करने आया था। मदद मांगने आया था, तो यहां लाया गया। यह मुझे मुर्गा बनाना चाहते हैं लेकिन मैं इनके पिंजरे में फंसने वाला नहीं। मेरे विचार आकाश फांद सकते हैं। मैं अपनी स्मृति के बल पर इनको चकित कर दूंगा। प्रमाण मांगेंगे तो बीस दफ्तरों से रिकार्ड मंगवाऊंगा।

कैदी—परन्तु मेरे केस में यही एक कमी है। गवाह नहीं। प्रमाण नहीं।

रतिरमण- पर तुमने चुराया क्या है ?

कैदी—कुछ भी नहीं। नये जी, मैं एक चित्रकार हूं। नाम नहीं बताऊंगा। मेरे चित्रों के बारे में समाचार-पत्रों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है! और अगर यह लोग मुझे फंसाने में सफल हुए तो बड़ा स्कैण्डल हो जायेगा।

रतिरमण—तुम्हारा नाम हरेक की जबान पर होगा। एकदम मजनूं बन जाओगे, यही न! लोगों से डर लगता है ?

कैदी—मेरा जीवन बेकार चला जायेगा। मैंने एक अमीर और प्रभावशाली आदमी की लड़की से प्रेम किया है।

रतिरमण—(हंसता है) प्रेम किया है ? भाई, प्रेम जैसी कोई चीज दुनियां में है भी ? न जाने किस डरपोक कवि ने इस कायर शब्द को रचा है। सत्य जो है, वह है वासना ! और शिष्टाचार के बन्दों ने उसकी नग्नता छुपाने के लिए एक आवरण बनाया है, एक वरदी बनाई है···प्रेम। इस शब्द की आड़ लेकर हमारे लिए कहानियां रची हैं।

कैदी—बाप को अपनी संतान के प्रति, माता को अपनी औलाद के प्रति वासना जैसी दुर्भावना नहीं होती है। प्रेम अमर है। निष्कलंक है। शाश्वत है। वासना से ऊंचा है।

रतिरमण—पुराने जी, यह केवल लगाव की कड़ियां हैं। सम्बन्ध की कड़ियां हैं। यदि किसी नवजात शिशु को अपनी मां के स्थान पर कोई अन्य नारी पाल-पोस कर बड़ा करे तो क्या उसे अपनी असली मां के प्रति प्रेम होगा! केवल लगाव की कड़ियां पराई नारी के साथ जुड़ गई होंगी। हम वासना के मारे आकर्षण के शिकार होकर प्रेम का स्वांग रचते हैं। प्रेमाभिनय करते हैं। असली मुख अन्दर और नकली मुखौटा सामने क्यों ?

कैदी आप अपनी राय मुझ पर ठोंसना चाहते हैं ?

रतिरमण—नहीं! कभी नहीं! केवल मैं अपना व्यक्तित्व वापस पाना चाहता हूं। जिसे मैं खो चुका हूं। जिसके बिना मैं अधूरा हूं। बिल्कुल अधूरा हूं।

कैदी- यहां से निकलने के दो रास्ते हैं। या तुम पूरे होकर निकलोगे या इस अधूरेपन को भी गंवा दोगे।

रतिरमण—पर तुम इस पिंजरे में कहां से आ फंसे ?

कैदी—मैं उस लड़की को चित्रकला सिखाया करता था। रोज उसके बंगले पर जाता था। रंगों की पहचान इस्तेमाल और रेखांकन सिखाता। बस यही था मेरा काम। शुरू में वह बहुत 'डल' थी। धीरे-धीरे उसने फूल. पक्षी, वृक्ष तथा अन्य ऑब्जेक्ट्स बनाना सीख लिया।

रतिरमण—मेहनत काफी करती थी। क्यों ?

कैदी—हां, लेकिन फिर उसकी चित्रकला मेरे लिए उलझन बन गई। जहां वह फूल बनाती थी वहां पर उड़ते हुए भंवरे मंडराते थे। जहां शम्अ जलाती थी वहां पर परवाने को भी खींच लाती थी। मेरा मतलब···।

रतिरमण—मतलब मैं समझ गया। तुम आगे कहो, क्या हुआ ?

कैदी- ऐसे ही न जाने कितने विषय वह खुद चुन-चुन कर किस्म-किस्म के रंगों में बनाती थी। उसके उन चित्रों को देखकर मैं शर्मिन्दा हो जाता था। मैं उससे निराश हो गया। मैं चाहता था कि वह कुशल कलाकार बने किन्तु मुझे एहसास हुआ कि वह भावुकता के जंगल में अपने को खो रही है। उसमें पहले जैसी जिज्ञासा नहीं रही।

रतिरमण—मुझे जिज्ञासा भरी नीची-नीची नज़रों और झुकी-झुकी पलकों वाली लड़की का सुडौल चेहरा याद आ रहा है। तुमने किसी लड़की के होठों की थिरकन देखी है ?

कैदी—मैंने केवल मोनालिसा की मुस्कान देखी है। मौन और शांत। तुमने मोनालिसा का चित्र देखा है ?

रतिरमण—फोटोग्राफ देखे हैं। मुख नहीं, मुखौटा देखा है। जिसमें कोई आकर्षण नहीं। मैं केवल उसके उभरे स्तन देखकर मुस्कराया था। छोड़ दो इस विदेशी चित्र को। यह बताओ तुम्हारी इस स्वदेशी 'लड़की' का क्या नाम है ?···(कैदी चुप रहता है)···मैंने उस लड़की का नाम पूछा है।

कैदी—उसका बाप मेरे केस के साथ उसका असली नाम नहीं लेने देता। अमुक बाप की बेटी लिखवाता है। फिर भी मुझे उसका नाम बहुत भाता है।

रतिरमण—क्या है वह ?

कैदी—प्रेरणा।

रतिरमण—(हंसता है) वाह, वाह ! असली कलाकार निकले। तो तुमने अपनी इस नायिका को कल्पित नाम प्रेरणा दिया है। तुमने अपने आस-पास की हर चीज का नाम प्रेरणा रखा होगा। बिल्कुल अनाड़ी हो अनाड़ी। कल्पनालोक में विचरण अच्छा नहीं। यह माया है, माया। प्रेरणा एक नशा है जो स्थायी नहीं, जल्द ही उतर जाता है। एक मृगमरीचिका है। भलाई इसी में है कि इसे दूर से ही प्रणाम करो।

कैदी—आप बिल्कुल मेरे अंतस को समझ गए। वास्तव में उस लड़की का नाम प्रेरणा नहीं। केवल मैं उसे यही नाम दे सकता हूं। आप दार्शनिक लगते हैं ?

रतिरमण—न भाई न ! मुझे केवल किसी के दर्शन मात्र ने उन्मादित किया है। उफ ! मुझसे इस दशा में रहा नहीं जाता। मुझे दर्द हो रहा है। मेरा सारा बदन जल रहा है। तुमसे यहां अकेले खामोश कैसे बैठा जाता है ?

कैदी—यहां आकर मुझे भी दर्द हुआ था। मैं भी तड़प उठा था।

फिर स्वत: धीरे-धीरे ठण्डा हो गया हूं···यहां की यातनाएं सह कर।

रतिरमण—उफ ! क्या सचमुच तुम्हारे निकलने का कोई उपाय नहीं ?

कैदी—जब तक वह लड़की स्वयं आकर मेरी ओर से गवाही न दे, शायद इल्जाम हर सूरत में मेरे ही विरुद्ध रहेगा।

रतिरमण—आखिर तुमने चुराया क्या है ?

कैदी—मुझे उस लड़की के प्रभावशाली धनी बाप के कथनानुसार चोर कहा गया है। जब मैं जान गया कि वह लड़की मेरी ओर आकर्षित है तो मैंने उसके घर जाना छोड़ दिया। मैं एक मध्यवर्गीय मामूली आदमी, उसके अयोग्य था। परन्तु वह लड़की मेरे स्टूडियो पर आने लगी। रोज आने लगी।

रतिरमण—और तुमको अपने भावुक चित्र दिखाया करती थी।

कैदी- नहीं, चित्र नहीं दिखाती थी। केवल मेरे बनाए चित्रों को गौर से देखा करती थी। मेरे साथ बहुत देर तक बातें किया करती थी।

रतिरमण—सम्बन्ध गहरा होता जा रहा था। स्लो प्रॉसेस।

कैदी—फिर उसके व्यवहार में फर्क दिखाई दिया। वह सचमुच मितभाषिनी बन गई। मैं चित्र बनाया करता। वह मुझे एकटक देखती। मुझे उसकी वह मुखमुद्रा बहुत भली लगती और तब एक दिन मैंने उसका चित्र बनाया।

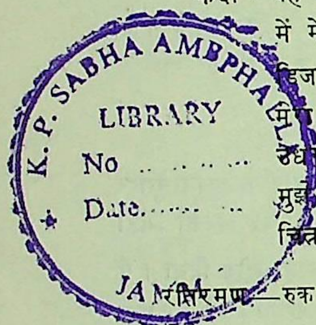
रतिरमण (हंसता है) तुम्हारा तापमान बढ़ने लगा। उसकी अनुपस्थिति में तुम उसके चित्र के साथ बातें करने लगे। प्रेमाभिनय करने लगे। क्यों ? ब्रेवो कलाकार···ब्रेवो··· (हंसता है। कुछ क्षणों बाद सोए हुए मुन्शी के कानों में जोर से···) फुर···र···र···र···।

मुन्शी—(घबराया सा, अर्धनिद्रा में) क्या है, अब क्या है ?

रतिरमण—कुछ नहीं हवलदार। सो जाइये। मैं तो केवल यह देख रहा था कि खर्राटे लेने के साथ-साथ क्या आपके नथुने भी द्रुत-लय में थरथराते हैं ?

मुन्शी—उं ! ऊं ! उं ! ऊं ! (करवट बदल कर सो जाता है। कैदी हंसता है)

रतिरमण—कहो कलाकार, फिर क्या हुआ ?



कैदी – वह बहुत खुश हुई। उस दिन से उसने नित्य नये-नये कपड़ों में मेरे पास आना शुरू कर दिया। नये-नये रंग के नये-नये डिजायनों में वह बहुत सजधज कर आती थी। उसे देख कर मेरा दिल धड़कता था। वह एक ड्रैस माडल बन रही थी। उधर लोग अब तरह-तरह की अफवाहें उड़ा रहे थे। परन्तु मुझे अफवाहों की चिन्ता नहीं थी। मैंने उसके बहुत से चित्र बनाए और फिर···

रतिरमण—रुक क्यों गए ? फिर क्या हुआ ?

कैदी—फिर मैंने न्यूड बनाने शुरू किए।

रतिरमण—लो, यह रही। आवरण में कोई आकर्षण नहीं रहा। वास्तविकता न रही। क्लासिकी न रही।...तो फिर...

कैदी—वह मेरी मॉडल बन गई। मैंने उसे मॉडल रखकर बहुतेरे चित्र बनाए, बेचे और इस प्रकार मैंने एक अच्छी धनराशि प्राप्त की। तब मैंने स्टूडियो के लिए एक नया फ़ैशनेबल मकान लिया।

रतिरमण—(गाता है) फुरुर-फुरुर

तुतक तुतक तुतक तू तुतका तू
कदम कदम बढ़ेंगे हम मुहाज पर लड़ेंगे हम !
मुख, मुखौटे, आवरण, और वरदियां लिए
कदम कदम बढ़ेंगे हम मुहाज पर लड़ेंगे हम।

(कुछ देर चुप रहने के बाद)

क्षमा करना कलाकार बन्धु, यह मेरा थोड़ा सा मजाक था, मन-बहलाव। तो फिर कहो तुम्हारी प्रगति कहाँ तक पहुंची ? (कैदी मौन रहता है) कहो न बन्धु ! क्या रूठ गए ? देखो, मेरे मजाक का बुरा मत मानना। आज की रात तुम्हें एक सुनने वाला मिला है। दिल खोल कर अपने हृदय के भार को कम करो। नहीं तो इस अंधकार में, एकांत की घुटन से तुम्हारा दम घुटने लगेगा।···कहो न ?

कैदी—फिर मेरी चित्रप्रदर्शनी दूसरे शहर में हुई। हम दोनों वहां गए। सात दिन के बाद लौट आए। पांच दिन तक वह मेरे स्टूडियो में नहीं आई। मैंने कई बार फोन किया परन्तु वह न मिली। यही उत्तर मिलता था कि वह घर पर नहीं है। सातवें दिन वह स्वयं आकर मिली। उसने मुझसे कहा, "चलो, यह शहर छोड़ कर कहीं चले चलें।"

रतिरमण—दूर, इस दुनियां से दूर। दुनियां वालों से दूर। जहां तुम हो, मैं हूं और हमारी छोटी सी दुनिया हो। क्यों, यही न ?

कैदी—हां! कुछ ऐसा ही। लेकिन मैंने नहीं माना। वह निराश हो गई किन्तु फिर भी मेरे पास आती रही। तब एक दिन अजब बात हुई।····

रतिरमण—क्यों ? प्रेमी पंछियों का जोड़ा बिछुड़ गया ?

कैदी—नहीं! एक दिन मैं उसका न्यूड बना रहा था तो किसी ने मेरा दरवाजा खटखटाया। उस समय किसी के आने की सम्भावना न थी। वह एकदम स्क्रीन के पीछे कपड़े पहनने चली गई। मैंने दरवाजा खोला तो देखा···

रतिरमण—क्या देखा ?

कैदी—उसका बाप।

रतिरमण—बाप रे!···फिर ?

कैदी—उसको देखते ही मेरे पैरो तले की धरती खिसक गई। मेरे सामने यमराज की मूर्ति थी। मुझे ज़िन्दगी में पहली बार अनुभव हुआ कि मैं बहुत डरपोक हूं, कायर हूं। अब वह क्या कहेगा ? अपनी बेटी को मेरे कमरे में नग्न देखकर क्या समझेगा ?

रतिरमण—इसमें कुछ भी समझने की बात नहीं ? एक बाप अपनी बेटी को न्यूड में देखे तो कोई अजब बात नहीं।

कैदी—लेकिन मेरे कमरे में···?

रतिरमण—तुम्हारे कमरे में। चित्रकार के स्टूडियो में मॉडल और चित्र

में क्या ग्रन्तर ? एक प्राणवान, दूसरा निष्प्राण। दर्शक के लिए दोनों एक समान।

कैदी—मुझे एहसास हुग्रा जैसे उसने हम दोनों को नंगे देख लिया हो। वह उबल पड़ेगा। गोली चलाएगा। या मेरे चित्रों को तहस-नहस कर देगा।

रतिरमण—(चुटकी बजाकर) हिन्दुस्तानी फिल्मों में खलनायक की भाँति फ्री-स्टाइल मुक्केबाजी खेलेगा। यों (ग्रपने साथ मुक्केबाजी खेलता है) हुं हुं. क्यों ऐसे ही न ?

कैदी– लेकिन उसने कुछ भी नहीं किया। बड़ी ग्रधीरता के साथ कमरे में लटके सभी चित्रों को देखने लगा ग्रौर फिर मुझ से कहा, (ग्रावाज बदल कर) 'इन सब चित्रों की कितनी कीमत मांगते हो ?'' मैं चुप रहा। 'कहो, कितनी कीमत चाहते हो ?'' उसने फिर कहा।

रतिरमण—(नीलामी की तरह) लाख, पांच लाख, दस लाख, बीस लाख ···क्यों, तुम फिर भी चुप रहे ?

कैदी—हां ! मैं बिल्कुल चुप रहा। खामोशी से केवल उसके बूटों की चपटी नोकों को देखता रहा। भय से मेरा सारा शरीर कांप रहा था। मुझे लगता था कि वह ग्रपने जूते निकाल कर मेरी नाक पर मारेगा। मेरी नाक से खून का फव्वारा फूटेगा।

रतिरमण—ग्रौर बाप की बेटी ग्रपने प्रियतम पर होते प्रहारों को स्क्रीन की ग्रोट से देखती रहेगी। उसके नथुनों से बहते हुए खून को ग्रपने भावुक चित्रों पर मल कर ग्रपने प्रणय-खेल का ग्रन्त करेगी। यही न ?

कैदी नहीं, ऐसा कुछ नहीं हुग्रा। मैंने बड़ी हिम्मत से चित्र बेचने से इंकार कर दिया।

रतिरमण—ग्रो तुमने घर ग्राई लक्ष्मी को स्वीकार करने से इंकार किया ? ग्राखिर क्या था तुम्हारे चित्रों में ? सोना भर रखा था ? हीरे जड़े थे ?

कैदी—नहीं, मैं उन्हें बेचना नहीं चाहता था। मुझे उनके साथ मोह था। मेरी उनके साथ ग्रात्मीयता थी।

रतिरमण हुं ! परन्तु वह यह सब चित्र खरीदना क्यों चाहता था ?

कैदी—वह मेरे चित्रों में अपनी बेटी की परछाइयां पा रहा था।

रतिरमण ऐसा तुम समझते हो या वह समझता था ?

कैदी—शायद हम दोनों समझते थे।

रतिरमण—फिर वह चला गया ?

कैदी—हां ! एक भले आदमी की तरह।

रतिरमण—और उसकी लड़की ?

कैदी—वह एकदम घबरा गई थी और अधमुई सी मेरी बाहों में गिरकर सिसक-सिसक कर रोने लगी।

रतिरमण—(बाहें पसारता है) आह, मुझे लगता है कि बादाम जैसी आंखों वाली लड़की मेरे दायें कंधे पर अपनी गर्म सांसें छोड़ रही है।

कैदी—फिर वह संभल गई और अपने घर चली गई। फिर कभी नहीं आई। तब मैं एक दिन उसके प्रभावशाली पिता के षड्यन्त्र में फंस गया और आज तक यहां की यातनाएं सह रहा हूं। लेकिन मैं कभी इनके बनाये झूठ का इकरार नहीं करूंगा। मैं मरना स्वीकार करूंगा किन्तु झूठे आरोप कभी कबूल नहीं करूंगा।

रतिरमण - (उत्तेजित होकर) झूठ, तुम झूठ बोल रहे हो। तुम कोई कलाकार नहीं हो। मैं समझ गया। इस चाल को समझ गया। अच्छी तरह से समझ गया। तुम इस इंस्पेक्टर के ज़रखरीद गुलाम हो। कहानियां गढ़ते हो। तुम पीटे नहीं जाते हो। तुम चाहते हो कि तुम्हारी प्रेम-कहानी से प्रभावित होकर मैं तुम्हें यह बताऊं कि मैं कौन हूं ? आरोपित आरोप को स्वीकार करूं।…नहीं बताऊंगा मैं। कहां छुपाया है तुमने टेपरिकार्डर। बताओ ? तुम यह सारी बातें टेप कर रहे हो ? बताओ ? बोलो… जवाब दो… बताओ ? तुम मेरे साथ नाटक खेल रहे हो ? कहो ?

कैदी—नये जी, यह क्या कह रहे हैं आप ? आप बहक रहे हैं। मैं नाटक नहीं खेल रहा हूं। मैं बंदी हूं।

रतिरमण—बड़े चतुर मालूम होते हो। तुम मुझे चकमा नहीं दे सकते हो। कहो ? तुम मुझे इन लाठियों से डरा रहे हो ? इनकी उन लकड़ी की बंदूकों का खौफ दिला रहे हो। मैं इन सब से नहीं डरता हूं। मैं तुम्हारी तरह कायर नही हूं। डरपोक नहीं हूं। मैं इन सबको जला दूंगा। तुम्हें और तुम्हारी कहानी को खत्म कर दूंगा। मैं जल रहा हूं। मैं उबल रहा हूं। मैं तप रहा हूं। देखो ? (अपनी शर्ट के बटन खोल देता है) मैं यहां की सारी सम्पत्ति भस्म कर दूंगा। यह लाठियां…

कैदी—नये जी, नये जी, ओ…

रतिरमण—(लाठियां उठा कर स्टेज पर फेंक देता है) एक…दो…तीन …चार…

कैदी—नये जी, नये जी ! यह क्या हो रहा है, नये जी ? ज़रा सम्भल जाइए। ठहर…

रतिरमण—यह रहीं बंदूकें, नकली बंदूकें, बनावटी बंदूकें। (फेंक देता है) एक…दो…तीन…चार…

(सिपाहियों के कमरे में चला जाता है)

कैदी—नये जी, यह अच्छा नहीं। सब जाग जायेंगे तो आप पर सख्ती करेंगे। आपको बांध लेंगे। छोड़ दीजिए। नये जी, नये जी ! कहां चले गये। वहां सिपाहियों का कमरा है। वह सो रहे होंगे। नये जी, अंधेरे में ठोकर लगेगी, नये जी !

रतिरमण—(वरदियां लेकर आता है) अन्दर सोये पड़ों की वरदियां। कमरबन्द…बेल्ट…(फेंकता जाता है)…टोपियां…

कैदी—क्या कर रहे हैं आप, नये जी ?

रतिरमण—(मुन्शी की वरदी उठाकर फेंकता है) वहां सोये पड़े जानवर की वरदी।

कैदी—नये जी, यह क्या कर रहे हैं आप ?

रतिरमण - अकर्मण्यता की थकान को जला रहा हूं। (इंस्पेक्टर के कमरे में जाता है)

कैदी—यह ठीक नहीं है। इसका परिणाम ठीक नहीं होगा। यह

आप को मुक्त नहीं करेंगे । बांध लेंगे। नये जी, मेरी बातों पर विश्वास करो। मेरा कहा मान जाओ। वापस आओ। वहां पर इंस्पेक्टर का कमरा है। वह जाग जायेगा तो तूफान मचायेगा। नये जी, नये जी।

रतिरमण—(वरदी लेकर) इंस्पेक्टर की वरदी। टोपी। कमरबन्द— लो लग गई आग। लग गई। आग लग गई। (वरदियां हाथ में उठाता है) जल गया...जल गया...जल गया... आग ! आग ! (सोए हुए मुन्शी का ओढ़ने का कपड़ा उठा लेता है।) आग ! आग !

मुन्शी—(जाग कर) कहां है ? कहां है ?

रतिरमण—जल गया। जल गया। जल गया। आग...आग।

मुन्शी—कहां है ? क्या जल गया ?

रतिरमण—आग। आग। आग।

(पुलिस चौकी के सारे सिपाही जाग पड़ते हैं। घबराहट के मारे सभी सिपाही अस्त-व्यस्त ; नंगे-अधनंगे मंच पर चले आते हैं। इंस्पेक्टर भी आता है।)

इंस्पेक्टर—क्या है ? बुझा दो। जल्दी बुझा दो। क्या जल रहा है ?

रतिरमण—जल गया। आग। आग।

इंस्पेक्टर—(रतिरमण को पकड़ कर) कहां है आग ?

रतिरमण—(दिल पर हाथ मार कर) यहां। दिल जल रहा है।

इंस्पेक्टर—दिल जल रहा है। पहली बार चोर भागा था, अब दिल जल रहा है। क्या मिलता है आपको इस मज़ाक से । मैं इस तरह की अनुचित हरकतों का मतलब नहीं समझा ?

रतिरमण—ओह, इंस्पेक्टर। तुम नहीं समझोगे। मेरे मस्तिष्क में एक चरखा है, पहिया है, एक दायरा है जो घूमता रहता है। जब तेज घूमने लगता है तब मुझे अपनी हरकतों पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। मुझे अपनी करनी पर वश नहीं रहता। लगता है मैं उस दायरे के केन्द्र-बिन्दु को खो देता हूं।

इंस्पेक्टर— अगर आप इस थाने के बाहर ऐसा हुल्लड़ मचाते तो आप पर नया जुर्म आयद होता। हवलदार! बांध दो इनके हाथ पैर! और देखो, खुद यहां पर रह कर निगरानी रखो। मिस्टर मदन अब आप हमें और परेशान न कीजिए।... उठाओ यह सब चीज़ें यहां से। बांध दो दोनों हाथ-पैर।

रतिरमण लेकिन मेरे मस्तिष्क में घूमने वाले दायरे को तुम नहीं रोक सकते, वह चलता रहेगा। घूमता रहेगा। (उसके हाथ-पांव बंध जाने पर इंस्पेक्टर का प्रस्थान)—चलता रहेगा...अरे भाई, ज़रा धीरे से बांधो। रक्त-मांस के हैं, लकड़ी के नहीं।

सिपाही—यह सब चीज़ें इसने यहां पर कैसे जमा कर दीं?

मुन्शी—घूम-घूम कर। लेकिन अब कहां घूमेगा। लो बाबू, अब ज़रा सम्भल कर रहना।

रतिरमण—घूमता रहेगा, चलता रहेगा...

सिपाही—अब नींद नहीं आने की। लो भई, हम चले।

रतिरमण— घूमता रहेगा, चलता रहेगा...।

मुन्शी—अपनी भी नींद उड़ गई। बाबू, खामोश रहो।

रतिरमण—घूमता रहेगा, चलता रहेगा...।

(प्रकाश धीरे-धीरे कम होने लगता है। सभी अपने पहले के स्थानों को चले जाते हैं। कैदी पुन: दिखाई देता है)

कैदी—नये जी, यह आपने क्या किया? आप मुझ पर विश्वास कीजिए, मैं इंस्पेक्टर का आदमी नहीं हूं। वह बहुत बुरा आदमी है। पहले उसका रवैया हमदर्दी से भरा रहता है परन्तु फिर वह बदल जाता है। वह आदमी नहीं रहता। मैं उसकी यातनाएं सह रहा हूं। आप मुझ पर विश्वास क्यों नहीं करते मैं उसका बंदी हूं।

रतिरमण—हम अपनी स्वनिर्मित यातना के बन्दी हैं।

कैदी—मुझे अपना ही समझ लीजिए। मैं झूठ नहीं बोल रहा हूं।

रतिरमण—मैं समझ गया, तुम झूठ नहीं बोल रहे हो। मैं भी झूठ कहना नहीं चाहता और सच छुपाना नहीं चाहता।...उफ।

...तुम चुप रहो...चुप रहो। तुम्हारी कहानी मुझे जला देती है। मैं तप जाता हूं। उबल पड़ता हूं। तुम चुप रहो। अपने लिए चुप रहो। अपनी प्रेयसी के लिए चुप रहो। कृपा करके मेरे लिए चुप रहो। चुप रहो, चुप रहो। चुप रहो...

(प्रकाश और अधिक धीमा हो जाता है। रतिरमण की सिसकियां सुनाई देती हैं। पूर्ण अंधकार। पार्श्व में घड़ी आठ बजाती है। प्रकाश फैलने पर एक सिपाही आकर रतिरमण के हाथ-पांव खोल देता है। रतिरमण एकटक सामने देख रहा है, उसकी गर्दन एक ओर को झुकी हुई है। सिपाहियों का आना-जाना शुरू हो जाता है। कैदी पर्दे के पीछे है। सवेरा हो गया है। वरदी पहने इंस्पेक्टर आता है।)

इंस्पेक्टर खोल दीं रस्सियां।...हां।...कहिए मिस्टर मदन, अब कैसी हालत है।

(रतिरमण चुप रहता है) ओह। समझा, तो अब मौन साधने का विचार है। क्यों? मौन इकरार का दूसरा नाम है।

रतिरमण—नहीं, मौन मुर्दे साधते हैं। मैं अभी मरा नहीं हूं। मेरा दिल अब भी धड़क रहा है। आप यहां आकर मेरे दिल की धड़कनें गिन सकते हैं।

इंस्पेक्टर—धड़कनें मैं नहीं, कोई और गिनेगा।

रतिरमण—ऐं।

इंस्पेक्टर—डाक्टर।...मैंने डाक्टर को बुलाया है।

रतिरमण—क्यों, तुम्हारे सिपाहियों में से क्या कोई बीमार हो गया है।

इंस्पेक्टर—नहीं! मैं तुम्हारा मैडिकल एग्जामिनेशन कराना चाहता हूं।

रतिरमण—हो, हो......यह एग्जाम अभी बाकी था। इस कमी को तुम पूरा कर रहे हो। सरकारी खर्च पर, क्यों? हः हः हः... (हंसता है)

सिपाही—इंस्पेक्टर साहब, डाक्टर।

[डाक्टर अन्दर आता है]

इंस्पेक्टर—गुड मार्निंग, डाक्टर।

डॉक्टर—गुड मार्निंग, इंस्पेक्टर।

रतिरमण—[डाक्टर की ओर देखकर] हूं......।

इंस्पेक्टर मिस्टर रतिरमण मदन कल रात के ग्यारह बजे से यहां हैं। कभी कभी नरवस फील करते हैं। इसलिये, डाक्टर, मैं चाहता हूं कि आप इन्हें एग्ज़ामिन करें।

रतिरमण—नो डाक्टर, नो। मुझे नहीं, आप इन सब को एग्ज़ामिन कीजिए। यह सब बीमार हैं। [डाक्टर हंसता है। इंस्पेक्टर हैरान होता है।] आप हंसते क्यों हैं? झूठ नहीं कहता हूं। मैंने आज रात भर इन सब को नींद में चलते-फिरते देखा है। इन सभी ने अपनी-अपनी वरदियां मेरे पैरों पर फेंक दीं। पगड़ियां फेंक दीं। कमरबन्द फेंक दिए। अपने जूते... नहीं, जूते नहीं फेंके, डाक्टर, जब मैंने इन्हें जगाया तो इन्होंने मिलकर रस्सी से मेरे हाथ पाँव बांध दिये। देखो, अब भी मेरी कलाइयों पर रस्सी के निशान हैं। [इंस्पेक्टर डाक्टर को रतिरमण के सिरफिरा होने का संकेत करता है]

नो डाक्टर, नो। मेरा दिमाग बिल्कुल ठीक है। बिल्कुल ठीक है। हां, ज़रा बदन तप रहा है। दर्द हो रहा है। मेरे कपड़ों की चोरी हो गई है। टिकट की चोरी हो गई है। मेरे प्रमाणपत्रों को चुराया गया है। डाक्टर। मुझ पर विश्वास करो। मेरा व्यक्तित्व चुराया गया है। मैं अधूरा हूं। मुझे इनकी वरदी नहीं चाहिए। मैं बेढंगा लगता हूं। अजीब लगता हूं।

डाक्टर—[स्टेथस्कोप लेकर] ज़रा मुझे देखने दीजिए?

रतिरमण—उफ्।

डाक्टर—ज़रा सांस खींचिए? [रतिरमण खर्राटे भरता है] ज़रा धीरे से, खर्राटे नहीं, सांस खींचिये।

रतिरमण—डाक्टर, यहां सभी को खर्राटे लेने की आदत है।

डाक्टर—अपनी नाड़ी दिखाइये?

रतिरमण आह । डाक्टर, मैं तप रहा हूं । उबल रहा हूं ।

डाक्टर बुखार तो बिल्कुल नहीं है ।

रतिरमण—डाक्टर यह आत्मा का बुखार है । मैं तप रहा हूं ।

डाक्टर—इस समय कहां पर दर्द हो रहा है ?

रतिरमण —उफ़ । डाक्टर, यह देखना तुम्हारा काम है । सच पूछो तो मुझे अपने व्यक्तित्व के छिन जाने का बुखार है । मुझे अपने व्यक्तित्व से लगाव है । आत्मीयता है । अपनापन है । मुझे अपने कपड़ों और सर्टिफिकेटों के छिन जाने का दर्द है । मैं अधूरा हूं । नंगा हूं । डाक्टर, आई एम एक्सपोज़ड । मैं अपने व्यक्तित्व के दायरे से अलग हूं । मैं केवल केन्द्र-विन्दु रह गया हूं ।

डाक्टर—हूं ....[विचारमग्न मुद्रा में चक्कर काटता है । खामोशी...]

रतिरमण—डाक्टर, आपके पास थर्मामीटर होगा ?

डाक्टर—हां ! क्यों ? तुम्हें तो बुखार नहीं ।

रतिरमण—नहीं है ? पर मैं तप रहा हूं ।

[डाक्टर थर्मामीटर निकालता है]

डाक्टर तुम मज़ाक खूब जानते हो ।

रतिरमण मैं उस शहर में नहीं रहता जो बे-मज़ाक हो । इस पर यह निशान क्यों लगे हैं ?

डाक्टर क्यों, जानते नहीं हो, यह तापमान के चिन्ह हैं । हरारत देखने के निशान ।

रतिरमण—उफ । मेरा ताप इन चिन्हों की सीमा का अतिक्रमण करेगा । क्यों ?

डाक्टर—मैं आपका मतलब नहीं समझा ?

रतिरमण —इसका पारा उतर चुका है । है न ?

डाक्टर— नहीं तो ।

रतिरमण तो शान्त होगा, ठंडा, मौन और खामोश होगा । ठीक ?

डाक्टर — समझ गया । [थर्मामीटर जेब में रखता है] मैं समझ गया ।

इंस्पेक्टर, आप जानें और आपका काम। फिक्र करने की कोई गुंजाइश नहीं। एवरीथिंग इज नारमल।

[डाक्टर का प्रस्थान। रतिरमण कुछ क्षण सोचने के उपरान्त]

रतिरमण—ओह, डाक्टर, तुम सचमुच एब्नारमल हो...इंस्पेक्टर, तुम मेरे विचारों का पोस्टमार्टम कराना चाहते थे। क्यों ?

इंस्पेक्टर—आपका मतलब ?

रतिरमण—[मुस्करा कर] कुछ नहीं।

इंस्पेक्टर मिस्टर मदन। मैं बहुत कोशिश करता हूं कि आपको समझा पाऊं पर—

रतिरमण—उफ। मेरे मस्तिष्क का पहिया फिर घूमने लगा। चलने लगा। घूमने लगा। इंस्पेक्टर, चलने लगा। घूमने लगा।

[चेतना प्रवेश करती है। उसके हाथ में हैंगर है जिस पर सूट लटक रहा है। चेतना के दूसरे हाथ में बूटों का जोड़ा और पर्स है।]

चेतना ओह मिस्टर मदन !

रतिरमण—[चौंक पड़ता है। मुंह से चीख निकल जाती है] ओ... इ...इ...

[अपने दोनों हाथों से वह अपने मुंह को छुपा लेता है]

चेतना इंस्पेक्टर साहब। नमस्ते, आपका बहुत-बहुत शुक्रिया। .. मैंने इन्हें पा लिया। ओह। मैं रात भर जागती रही। ..कई बार स्टेशन मास्टर को फोन किया। कहीं से कुछ पता न मिला और तब, अभी अभी, कोई एक घंटा पूर्व......[रतिरमण एकदम उसके हाथ से हैंगर छीन लेता है। बूट स्वत: ही गिर पड़ते हैं। वह उन्हें उठा लेता है और भागकर इंस्पेक्टर के कमरे में चला जाता है] ओह। बस यही एक आध घंटा पूर्व स्टेशन से टेलीफोन पर किसी ने बताया कि हो सकता है कि बगैर टिकट पकड़ा गया आदमी ही मिस्टर मदन हो। आपका बहुत बहुत शुक्रिया... (पर्स खोल कर) इंस्पेक्टर यह रहा इनका टिकट।

इंस्पेक्टर—[टिकट लेकर] आपको मिस्टर मदन का सामान और यह टिकट वगैरह लेने से क्या मतलब था ?

चेतना—इंस्पेक्टर, आप नहीं समझेंगे। इन्हें सम्भालने की आवश्यकता है। बहुत आवश्यकता है।

इंस्पेक्टर—ठीक है। अब जीवन भर शौक से सम्भालिये परन्तु यह तो बताइये जब आप रेलवे स्टेशन पर उतरीं तो आप इन्हें साथ क्यों नहीं ले गईं ?

[एक पुलिसमैन स्टेज पार करता है। मुन्शी कुछ क्षण ठहर कर इंस्पेक्टर के कमरे में जाता है।]

चेतना—इंस्पेक्टर साहब, जब स्टेशन समीप आ रहा था तो मैंने सब सामान बांध लिया था। लेकिन मिस्टर मदन बाथरूम में थे। स्टेशन पर गाड़ी रुकी तो मैंने सामान उतरवाया। प्लेटफार्म से जब इन्हें देखने गई तो यह कहीं नहीं मिले। मैंने इन्हें इधर-उधर ढूंढा पर यह कहीं नहीं मिले। मैंने स्टेशन मास्टर से कहा कि यदि मिस्टर मदन को वह देखें तो उन्हें मेरे घर भेज दें।

इंस्पेक्टर—आप इसी शहर में रहती हैं ?

चेतना—जी हां।

इंस्पेक्टर—आपका नाम ?

चेतना—चेतना।

इंस्पेक्टर आपका मिस्टर मदन से क्या सम्बन्ध है ?

चेतना—[घबरा कर] जी, कोई नहीं।

इंस्पेक्टर—ओ, आई सी। जान-पहचान कितनी पुरानी है ?

चेतना—जी, हम दोनों गाड़ी में मिले हैं।

इंस्पेक्टर—यह बात। अब मैं इस पहेली को कुछ कुछ समझ रहा हूं। [टिकट देखकर] चेतना जी, इस टिकट पर तो अभी सफर पूरा नहीं हुआ है। मिस्टर मदन को तो अभी बहुत दूर जाना है।

चेतना—जी नहीं। अब इस टिकट की कोई जरूरत नहीं। अब हमारा नया सफर शुरू होगा। हम दोनों नई टिकट खरीदेंगे।

इंस्पेक्टर—(नाटकीय ढंग से) बधाई, नये सफर की बधाई हो।

चेतना—शुक्रिया। [इंस्पेक्टर कागज़ पर कुछ लिखता है.........
खामोशी]

इंस्पेक्टर—आप इस रिपोर्ट पर अपने सम्पूर्ण हस्ताक्षर कीजिए। [चेतना हस्ताक्षर करती है। इंस्पेक्टर खड़ा हो जाता है] मिस चेतना, क्या आप महसूस करती हैं कि आपने मिस्टर मदन के सामान को बिना उन्हें सूचना दिए अपने साथ ले जाकर उन्हें परेशानी में डाला, उनकी मानहानि कराई और जैसा कि वह समझते हैं, उनके व्यक्तित्व की चोरी की।

चेतना—यह सब जल्दी में हुआ। बहुत जल्द हुआ। इंस्पेक्टर, स्टेशन पर मुझे रिसीव करने बहुत से लोग आए थे। मैं उनसे मिस्टर मदन का परिचय कैसे करा सकती थी। आपको नहीं मालूम वे किस हालत में थे। ...आप यकीन नहीं करेंगे। (इंस्पेक्टर हंसता है) उफ। मैं बहुत परेशान थी। मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। पर मैं और कर ही क्या सकती थी।...मैं वहां बहुत देर ठहरी परन्तु .....इस शरीफज़ादे का कहीं नाम नहीं था। ...ओह, इंस्पेक्टर, मैं बहुत परेशान हूं। मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। पर ...पर...पर मैं इनको यह कहना भूल गई थी कि मैं इनको अपने घर ले चलूंगी। इंस्पेक्टर, मैं बहुत परेशान हूं।

इंस्पेक्टर आई एम सारी। आपको स्टेशन पर इनके लिए ठहर जाना चाहिए था।

चेतना—मुझे मेरी सहेलियां खींच रही थीं। सारा सामान उन्होंने कुलियों द्वारा पहले ही उठवा लिया था और स्टेशन के बाहर मोटर में रखवा दिया था। इंस्पेक्टर, यह सब बहुत जल्दी में हुआ। मैं आगे पीछे देखती जाती थी नज़र घुमाती जाती थी पर वह कहीं नहीं मिले। आपका बहुत बहुत शुक्रिया इंस्पेक्टर साहब। अगर वह स्टेशन पर न उतरकर गाड़ी में ही रहते तो उनको पाना बहुत मुश्किल था। मेरे पास उनका कोई पता न था।

इंस्पेक्टर—क्यों, आपके पास मिस्टर मदन की सर्टिफिकेट्स तो थीं ?

चेतना— नहीं, हो सकता है वह सब इनके बक्स में हों। मैं वह कैसे खोल सकती थी ?

[रतिरमण कपड़े बदल कर आता है। उसके व्यक्तित्व का बदलाव स्पष्ट लक्षित हो रहा है]

रतिरमण गुड मार्निंग, इंस्पेक्टर।

इंस्पेक्टर—[ऊपर से नीचे तक रतिरमण को देखकर] गुड मार्निंग। अब आप कैसा अनुभव कर रहे हैं।

रतिरमण—गुड मार्निंग मिस......

इंस्पेक्टर— मिस चेतना [हंसता है]

रतिरमण—इंस्पेक्टर, क्या मैं अब जा सकता हूं ?

इंस्पेक्टर — जरूर। लेकिन यकीन मानिये मैं अब भी सच्चाई नहीं जान सका।

रतिरमण—[दार्शनिक मुद्रा में] इंस्पेक्टर! सच्चाई, योग्यता और असलियत कपड़ों में नहीं, वरदियों में नहीं, [जेब से कागज निकाल कर] सर्टिफिकेटों में नहीं। नम्बरों में नहीं, टिकटों में नहीं। नहीं है इन सब में...आदमी में है। और अगर आदमी में भी नहीं है तो कहीं नहीं है। [चेतना की ओर आता है] फिर इंस्पेक्टर, हो सकता है कि बन्दी कैदी के कथन में सच्चाई हो, सत्य हो। यथार्थ हो। इंस्पेक्टर, हो सके तो उसको मुक्त कर दीजियेगा। (दर्शकों से सम्बोधित होकर) आप लोगों से कहता हूं कि अब आप यहां से चले जाइए। बाहर आपकी नंगी रात्रि आपकी प्रतीक्षा में खड़ी है। (मुड़ता है) आओ चेतना चलो चलें।

[बाहों में बाहें डालता है]

इंस्पेक्टर—तो मिस्टर मदन, अब आप कहां जा रहे हैं ?

रतिरमण (पलट कर) इंस्पेक्टर, मैं यहां अधूरा लाया गया था। और अब यहां से [चेतना के मुख को देखकर] पूरा होकर जा रहा हूं। उधर (हाथ से दिखा कर) दरवाजे के बाहर मेरा उगता हुआ दिन मेरी प्रतीक्षा में खड़ा है। मैं रोज़गार की तलाश में जा रहा हूं।

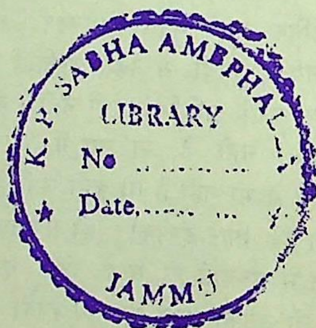
(दोनों चले जाते हैं। चुप्पी)

मुन्शी—साहब, क्या वह चले गये।......यह तौलिया यहीं पर भूल गए हैं।

इंस्पेक्टर—भूल नहीं गए हैं। शायद इसको हमारी नग्नता छुपाने के लिए छोड़ गए हैं। इसको सम्भालने की आवश्यकता है।

(दोनों भीतर जाते हैं। धीरे धीरे प्रकाश कम होने लगता है। सींकचों पर से पर्दा उठता है। कैदी के सींकचों से बाहर निकले दोनों हाथ ऊपर उठे हुए हैं। रोशनी हाथों पर पड़ती है। जैसे कह रहे हों...''मुझे झूठ बोलने पर मजबूर न करो। मुझे छोड़ दो।'')

(पर्दा गिरता है)



कांप कांप रहा चक्रबन्धु*

—सुतीक्ष्ण कुमार आनन्दम

चारों दिशाएं
जो कभी
भाती थीं मन को,
इंद्रधनुषी रंगों से
बांटा करती थीं अनुराग
आज वे सब
भयदायिनी—सीं
कर रहीं विकराल प्रदर्शन !

वह सामने पश्चिम में
होने लगा है सूर्यास्त,
उभरने लगी हैं
क्षितिज की सुरमई गोदी से
लवरें लाल-लाल,
ज्वाला-सी ठाठें मारती
मानो धधक रही हों

कांप-कांप रहा
चक्रबन्धु का तन
चक्रबन्धु का मन
उदय पर जिसके
दी थी मुर्गे ने
सचेतन बांग ।

कोई माने
अथवा न माने—

*एक पात्री नाटक (Monologue)

अपने इस समर-क्षण में
पा रहा हूं संकेत :
वास्तव में दिनकर
दिन तो करता है
पर
निशिकर भी यही है
क्योंकि रात
इसीके प्रस्थान से होती है,
शशि तो
तारागण का रखवारा है।

वह देखो—
समस्त सृष्टि को
अंधकारमय करता,
भानु जा रहा है
संचित कर उजाला
अपने साथ !

पर—
जाने क्यों लगता है :
अस्त होते रवि के साथ
मेरा अपना भी कुछ है—
अनसोचा कोई सम्बंध !

किंतु—
आज ही क्यों
होने लगा है इसका भास ?
पहले क्या
चूका हुआ था मैं ?

अरे हां—
स्मरण आया :

एक दिन कहा था फल
मेरे ज्योतिषी ने :
तुम्हारा सूर्य
तेज है
बली है,
इसीलिये
सुरक्षित हो आज तक !

देख रहा हूं —
वह पश्चिम दिशा में
हो रहा है अस्त !
अस्ताचल की ओर
बढ़ती सूर्य-गति के संग
कम होती-सी लगती है
अपने श्वासों की गति !

अरे अरे वह देखो —
क्षितिज की लपटों में से
एक महारथ-सा
नौ भैंसों द्वारा
खिंचता हुआ
बढ़ा आ रहा है
किसी भूपति की सवारी-सा ;
काटने को दौड़ रही है
उसकी तीखी उड़ान ?

क्या......?
क्या सचमुच ही
निकट आ रहा है
मेरा अनचाहा अवसान ?
(ठहराव)
सचमुच ही क्या

अस्त हो रहा है
मेरा तेजोमय सूर्य,
मेरा बली सूर्य ?

हां ?
स्पष्ट सुन रहा हूं
झंझावाती वाणी उस की
भयानक आँधी के स्वरों में
ललकारती
मेरा ही नाम :

और—
देख रहा हूं :
मेरी ही सीध लिये
वह महारथ
आ रहा है निर्वाध,
किंतु
मुझे अभी
मरना नहीं है
नहीं मरना है मुझे ?
नहीं
नहीं
नहीं नहीं नहीं
रुक जाओ
ठहर जाओ
मेरा कहा सुनो
मेरा कहा मानो
रुक जाओ
ठहर जाओ।

अरे
वह तो रुकता ही नहीं ?

उफ ?
यह युग
विज्ञान का है
मंत्र का
तंत्र का
और यंत्र का है,
इस युग में
क्या कोई नहीं ?
कोई नहीं क्या—
जो
सती अन्नपूर्णा
अनसूया—सा
हो पराक्रमी
और रोक ले
सूर्य का रास्ता ?
देखो
यदि देख सको तो
मेरे चारों ओर
एकत्रित हो रहे हैं
पर फड़फड़ाते
खड़खड़ाते
बड़े बड़े गिद्ध
और
मुंह वाए खड़े हैं
कुछ कुत्ते मेरे शहर के
तथा
कुछ आ रहे हैं जीभें निकाले
लार टपकाते ।

नहीं,

तुम नहीं देख सकते !
तुम क्यों देखोगे,
क्यों देखोगे तुम ?

अब वह महारथ
आ चुका है पास
बिलकुल पास
केवल
नाम की दूरी है।
स्पष्ट देख सकता हूं
लावे सी धधकती आंखें
उसके सारथी की
वज्र-सा काला शरीर
और उसकी पेशानी पर
दाएं बाएं सजे हुए
नरमुण्ड प्रतीक।

नहीं नहीं
यह मेरा भय नहीं है,
एक सत्य है यह
कटु सत्य !
देखो—
देखो—

खड़ग-सी चमचमातीं
तेल-पुती भुजाए उसकी
और
भाले-सी तीक्ष्ण
तीव्र अंगुलियां उसकी
लम्बी लम्बी
लम्बे लम्बे
नाखूनों वालीं ?

कुछ ही क्षणों में
ले जाएगा वह

मुझको यहां से
दूर...बहुत दूर ?
कौन जाने वह प्रदेश
होगा उल्लुओं का
चमगादड़ों का
अथवा
राजहंसों का नगर,
आह
कौन जाने ?
किंतु—
टूट जाएंगे तब
भौतिक संबंध सभी,
हां सभी संबंध
टूट जाएंगे।
वहम ?
नहीं नहीं,
इसे मेरा
वहम न कहो,
यह मेरा
वहम नहीं है।
यह सच है
मैं न रहूंगा,
अत्र मैं
और न रहूंगा
नहीं रहूंगा।
मैं न रहूंगा ?
तो ?
तो
क्या होगा इनका ?

इनका क्या होगा ?
मेरा यह सब कुछ !
हाय ?
तब
मेरी ये इच्छाएं,
आशाएं,
ये आकांक्षाएं
जिनके लिये
जाने क्या-क्या
भोगा मैंने
जाने क्या-क्या
छल सहे मैंने ?
ममता की
करी उपेक्षा
दिये आंसू
आंसू ही आंसू दिये
पी कर
सात्विक दूध !
पिता के अविश्वास का
बन कर पात्र
रहा बना कृपा का ऋणी
किया दुरुपयोग
हर उपहार का
लेकर सच की आड़ !
पहचान न सका मैं
बहनों का प्यार,
भाई का स्नेह,
अन्य सभी से
पाये सदा
आघात पर आघात;

मित्र—
रहे बताते
सुबह को सांझ
संध्या को प्रात
और—

मैं—
विशाल सागर में
रहा भटकता
अंधकूप में
दादुर-सा,
चाहों की लेता टोह
सहता बिछोह
तिरस्कृत वाक्य-सा
त्रस्त-व्यस्त ध्वस्त !
आह।
ये तृष्णाएं मेरी
सब हो जाएंगी
क्षीण-क्षाम
स्वामित्व जताने वाला उन पर
कोई न रहेगा ?
निर्मित होंगे
मानवता के नव स्मारक
जीव जीव को पहचानेगा,
ऊब—
घुटन—
घिराव से
मुक्त होगा जीवन,
घंटियां

खड़ताल बजेंगे,
अज़ानें होंगी
जीसस की होंगी प्रार्थनाएं
एक ही भवन में
एक स्वर में
एक ही ताल पर ;
नया धर्म उपजेगा
जियेगा,

जिसमें—
कोई
कोई न होगा
सब होंगे
मानव होंगे।
आह।
मेरे
इन सपनों का
कैसा होगा समाधान ?

और
जिन पर मैं
रहा ऐंठता
वे सफलताएं मेरी—
लिखा है जिन पर
मेरा नाम,
वे आस्थाएं मेरी—
चिपके हैं जिनके साथ
मेरे अधिकार,
वे पत्र—
जिनमें चर्चा है
मेरे व्यक्ति की,
सब के सब होंगे
दीमक को भेंट

या फिर
मेरी मां
पोंछा करेगी
उनसे अपना दृगजल
अथवा
उनके साए से वे
अविरल बहने लगेंगे
जिसे सोखने
आगे आएगा मेरा भाई
पूज्य मात-पिता का
द्वितीय चक्षु।

हां—
ठीक समझ रहे हो तुम
बिलकुल ठीक समझ रहे हो :

आज—
मेरा यह रोदन नया है,
अश्रु नहीं नयन में
स्नेह नहीं मन में
आकुलता नहीं बाहों में
उल्लास नहीं तन में;

आज—
मेरा यह रोदन
नया है।
भोगने को रोदन
जन्म से मिला है
रोया हूं
रो रो कर रोया हूं।
अपनों में
परायों में
सब ही सब में रोया हूं।
तवी और वितस्ता को
चन्द्रभागा की हर छलकन को

मन्दिरों को
मस्जिदों को
गुरुद्वारों को
गिरजाघरों को
सब को
अपना रोदन सुनाया है
दिखाया है,
खूब परिचित हूं
अपने रोदन से मैं !
किंतु आज—
मेरा यह रोदन नया है।

सम्भवत:
इससे पूर्व
रोता रहा हूं
अपने रुग्न मन से
पर आज—
आज का यह रोदन
मेरी पावन आत्मा का है,
इसीलिये नया है !

अरे देखो
अब भी देखो,
देखो एक बार
महारथ के
अगले कक्ष में
बैठा वह
काला विकराल सारथी
वल्गा थामे अपने स्थान पर
हो गया है सावधान
विकराल दैत्य-सा
विशाल चट्टान !
उसका दायां हाथ

उठ रहा है
धीरे धीरे !
ग्रौर
वह देखो :
एक रस्सा
सिरे पर जिसके
फाँसी का
स्वर्णिम कड़ा
झूलता हुग्रा
कर रहा है साक्षात्कार ;
ठीक मेरी ग्रोर
निर्बाध बढ़ता
चला ग्रा रहा है।
वह सामने
क्षितिज की गोद में
ज्वाला—सी
ठाठें मारती,
लाल लवरों के साए में
डूब रहा—
पश्चिम में
अस्त होता सूर्य,
जो—
कुछ ही क्षणों में
तन्दूरी लपटों में
रोटी-सा घिर जाएगा।
ग्रौर
इधर...
मेरे चारों ग्रोर
कुत्तों की भीड़
चीलों के झुण्ड

जीभें लटकाए
चोंचें खोले
नयन उगारे
देख रहे हैं
झूल झूल कर
मेरी ओर बढ़ते
फांसी के फंदे को।
देखो उनमें
वह मेरा 'राकी' है,
वह मेरा 'पीटर' है,
रो रहे हैं दोनों!
सुन रहे हो तुम भी ?
सुनो
सुनो वे रो रहे हैं!
पहले भी रोते थे वे
कभी कभी
खाना न मिलने पर,
दुलार न मिलने पर;
आज भी रो रहे हैं
कल इन्हें खिलाने को
आएगा कौन ?
प्यार से हिलती
इनकी दुम को
सहलाएगा कौन ?
और—
बे-वक्त भौंकने पर
इनको टोकेगा कौन
रोकेगा कौन ?

तुम—
सम्भवतः
देख नहीं सकते
इसीलिये चुप हो,
मौन रह कर
हो देख रहे
जैसे मैं
मैं नहीं
कोई झूठा व्यापारी हूं !

पर—
पर वह मेरा 'राकी'
वह मेरा 'पीटर'
सब देख रहे हैं,
वे जान गये हैं
यह महारथ आया है
मेरे ही कारण,
बढ़ाया है
सारथी ने फंदा
मेरे ही लिये !
अरी
मैं खुश हूं
(कि) तुम्हें कुछ ज्ञान नहीं है !

अच्छा हुआ—
जता न पाया तुम्हें
मैं अपना नेह,
देख देख कर तुम्हें
सदा
जी ही जी में मस्काता
रहा बनाता

नये नये ताजमहल !

हां री अनुकम्पे !
तुम्हारे संदर्भ में
कहने को
कुछ भी नहीं है
सूझ रहा मुझको,
आता है उर में
केवल
इतना आता है :
तुम कह न सकोगी—
था मैं कोई हरजाई !

मान रहा मैं :
तुम्हारे प्रति
प्यास अब भी है
किन्तु
यह प्यास
हां यह प्यास
आज मुझे
पहले से कहीं
अधिक प्रिय है !
मान रहा मैं :
मेरी रचनाओं में
तुम्हारे उद्धरण नहीं इतने
और जो हैं
उन्हें तुम
देख न पाओगी,
सम्भवतः इसलिये कि
वे किसी कारण से
अधूरे हैं !

कौन जाने
तुमने भी कभी
किया है मुझ से नेह
किए हैं प्रेप्सा के प्रबन्ध
अथवा
नहीं किए हैं।

पर—
मुझे ज्ञात है :
तुमने सदा
मेरे कथ्य को सराहा है,
मुस्कान का मेरी
उत्तर दिया है
मधुर मंदहास में
की हैं चर्चाएं मेरी
अपनी सखियों में

हां—
इस नाते से यदि
आंकोगी उनको
तुम उनमें
मेरी घुटन
और
मेरी चीत्कार से इतर
कुछ भी न सुन पाओगी !
निःसंदेह
कुछ श्रृंगार गीत भी हैं।

और हां—
यदि कहो तुम
महाप्रस्थान से पूर्व

अपने समस्त गीत
कर दूं
अर्पण तुमको
[वैसे तो
हैं भी वे
तुम्हारे ही लिये
किंतु
स्वीकृति अपेक्षित है]
उफ......
अति निकट
आ पहुंचा है
मेरा महाप्रयाण,
छा रहा है मौन ।
वह देखो
समस्त गोलक
सुरमई हो उठा है,
कुछ सितारे
चमक रहे हैं
वहां
जहां से
महारथ का
हुआ है आगमन,
सूर्य घिर चुका है
लपटों में,
उसके चारों ओर
आग का जुलूस
महाकाल का
कर घोष रहा है ।
वह देखो—

सुनो—
एक टी स्टाल से
आ रही आवाज़ :
क्षमा करो भाई
क्षमा करो
सिगरेट नहीं हैं और।
दूसरा कह रहा है :
वेतन कब पाओगे
कब हिसाब चुकाओगे ?
और तीसरा—
तीसरा मल रहा है हाथ
चुपचाप
और—
कनखियों से मुस्काता
देख रहा
वह प्रकाशक
कुछ भुनभुना रहा है :
अगर तुम सम्भालते
बेचने का उत्तरदायित्व
तथा
ज़मानत के करवाते जमा
दो सौ रुपये
तो छाप देता मैं
नया ग्रन्थ तुम्हारा,
विवश हूं क्योंकि
अब तक छापी है पुस्तक
जिस जिस लेखक की मैंने
पुरस्कृत हो गये हैं निःसंदेह
परन्तु पुस्तकें

सारी की सारी
हो रही हैं
दीमक की भेंट
साथ में
सड़ रही हैं
मेरी दस अलमारियां।
देखो
एक बन्धु मेरा
हंसी हंसी में
अपनत्व जताता
दिखा रहा है
झिझक झिझक कर
व्यंग्य
तथा
कटाक्ष के रंग
और
दीख रही है मुझको
उसकी झिझक में
अपनी जीत।
देखो—
वह देखो
सूर्य
आधे से अधिक
डूब चुका है,
तिमिर को
मिल रहा यौवन,
सारा संसार
श्यामल-श्यामल,
हर बदन

स्याही-पुता,
हर दिशा
सुनसान।

कुछ सोच रहे हैं :
जाता है
जाने दो
गई बला समझो,
कर देंगे तनिक
शोक व्यक्त,
वैसे
चल सकता है
बिन इसके भी काम।

और—
वहां—
महारथ का सारथी
अट्टहासों में
डूब रहा है,
नौ की नौ भैंसें
हिला रही हैं
अपनी अपनी दुम।

सूर्य—
तिल भर
केवल तिल भर
दीख रहा है,
वह फंदा
मेरे गले
पड़ने ही वाला है;
अब—
अब मैं
इसका स्वागत करता हूं

सहर्ष स्वागत करता हूं ।

वह—
उड़ता आ रहा है
कौओं का झुंड,
गाने लगा है
अनाप-छनाप
चीलों का दल,
कुत्ते
हो रहे हैं तैयार ।

रात भर ये सब
मनाएंगे उत्सव
और फिर
टूट पड़ेंगे मुझ पर
नोच डालेंगे
तन-वदन मेरा
कर देंगे बोटी-बोटी,
इन्हें
होगा नहीं
पहले से घटे
मेरे
अवसान का ज्ञान !

तथापि—
समझेंगे ये :
हमीं ने लिये हैं
इसके प्राण
हा हा हा...,
हा हा हा हा...।

रुको—

रुको—
अरे रुक जाओ सारथी
रुक जाओ
खींच लो हाथ
क्षण भर के लिये
पल भर के लिये,
हटा लो यह फंदा
हटा लो...
हटा लो यह फंदा।

तुम—
तुम तो देख सकते हो
मेरे भूरे 'राकी' की
सांवले-श्वेत 'पीटर' की
लटक गई है
शोकातुर होकर पूंछ,
किन्तु अपने पराये
किसी को भी
नहीं है ज्ञान
इस अनचाहे
महाप्रयाण का मेरे।
मैं—
मैं—
मैं किसे रहा बुलाता
किसे रहा सुनाता
किसे रहा दिखाता ये सब
यहां तो कोई नहीं है
हा हा हा...

हा हा हा…
कोई नहीं है यहां
मैं ग्रकेला हूं
ग्रकेला
बिलकुल ग्रकेला
भरी भीड़ में ग्रकेला
हा…हा…हा…
हा…हा…हा…
हा…हा…हा…।
देखो सारथी
तुम भी देखो :
यही है
सब से बड़ा सत्य,
देखो
मैं अकेला हूं
भरी भीड़ में ग्रकेला,
यहां सब
ग्रकेले
अकेले हैं।

वह देखो
देखो वह हेमा है
ग्रकेली
बिलकुल ग्रकेली
भरी भीड़ में जो
गुमसुम गुमसुम,
सह न सकेगी
विरह की घुटन,
ग्रौर वह सुदया है

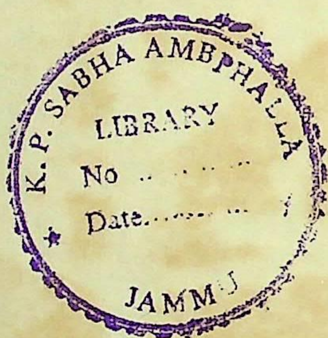
रो भी न सकेगी जो—
पलकों में
अटका रहेगा दृगजल।

अरे
अरे वह
'वीरो' गाय देखो
सम्भवतः
उसे ज्ञात है सब,
देखो कैसे
हक्की बक्की-सी
अपनी बछिया को
नीहार रही है;
सम्भवता—
चिंतित हैं दोनों :
आज वह
अपने हिस्से का
बचा कर ग्रास
आया नहीं देने को ?
सूर्यास्त हो चुका है
छा रहा है अंधकार,
अंगार-सी धधकती
क्षितिज की गोद में
वह लाल लाल
लपटें मारती ज्वाल,
कुछ ही क्षण पश्चात्
सिमट जाएगी
ठंडी हो जाएगी।

चीलों में
कौग्रों में
कुत्तों में
दौड़ गई है
लहर प्रसन्नता की
हो उठे हैं वे उत्साहित ।
आह ।
ग्राह ।
ग्रा ऽ ऽ
ग्रा ऽ ऽ ऽ
मेरा श्वास
ग्रटक रहा है,
गिद्ध
ग्रौर
कुत्ते
कदम कदम
बढ़ रहे हैं ग्रागे,
अट्टहास लगाता सारथी
खींच रहा है
फंदे की डोर ।

[संगीत प्रभाव के साथ सम्पूर्ण]

———





A Publication of :
J & K ACADEMY OF ART, CULTURE AND LANGUAGES,
JAMMU